हैं। मनुष्य खुद अपनी कमी और भूल समझने लगता है और अपनी बुराई के लिये पछताता है।

फादर एल्विन

मेरे पड़ोस में एक अंग्रेज ठहरा था। गांधीयुग में हिन्दुस्तानी और खासकर गरीबों के वेश में रहने वाले बहुतेरे अंग्रेज भाई हो गये हैं। खुला बदन, कमर से एक गमछा लपेटे हुए, नंगे पांव एक अंग्रेज युवक को स्वराज्य-आश्रम में मेरी आंखों ने जिज्ञासा से देखा। बिना मिर्च-मसाले का सादा खाना उसने हिन्दुस्तानी ढंग से खाया। जब परिचय हुआ कि ये फादर एल्विन हैं—पूना के 'क्राइस्ट सेवा-संघ' के प्रधान स्तम्भ हैं तो जिज्ञासा आदर और विस्मय में बदल गई। महात्माजी सत्य और अहिंसा पर जिस कदर जोर देते हैं, अपनी बारीकियों को जिस तरह समझाते हैं और अपने जीवन में जितनी साधना इनकी उन्होंने कर ली है उसका फल केवल यही नहीं हुआ है कि कुछ व्यक्ति अपने आत्म-संशोधन में लगे हुए हैं बल्कि संस्थाओं और जातियों तक में आत्म-शोधन की भावना जग रही है। जब से उन्होंने ईसाइयों में पादरियों की स्थिति के सम्बन्ध में अपने क्रान्तिकारी किन्तु सत्य-पूत विचार प्रदर्शित किये हैं तब से पादरी-समूह में खल-बली मच गई है और कितने ही पादरी जो सचमुच ईसा की शुद्ध भावना से प्रेरित होते हैं, महात्माजी के वचनों की सचाई को अनुभव करने लगे हैं। फादर एल्विन इन्हीं ईसा-भक्तों में हैं। उन्होंने अभी जेल-पीड़ित देशभक्तों की एक सभा में उनसे अपने उन गोरे पुलिस सिपाहियों की तरफ से माफी मांगी थी, जिन्होंने उनपर पिछले स्वराज्य-संग्राम में लाठियां बरसाई थीं। अंग्रेज जाति के दो स्पष्ट नमूने हमारे सामने हैं—एक ओर डण्डा बरसाने वाली पशुता या मदान्धता और दूसरी ओर सरल हृदय

पुण्य-स्मरण

[श्रद्धांजलि]

लेखक

श्री हरिभाऊ उपाध्याय

१९५०

नवयुग साहित्य सदन, इन्दौर

सोचा है, यह शोक तुम्हें क्यों हो रहा है ? इसीलिए न कि तुमने मार्तण्ड को होनहार लड़का मान लिया है ? तुमने उस से बहुत-सी आशाएँ बांध रखी हैं। आज तुम उन्हें टूटती हुई देख रहे हो और इसीसे इतने छटपटा रहे हो ? संसार में मरने से किसने किसको बचाया है ? मनुष्य जितनी ही आशा दूसरे से बांधता है उतना ही दुःख पाता है। इसलिए मेरी बात याद रखो—"Don't expect too much" उनका यह उपदेश आज भी मेरे हृदय में उसी तरह जीता-जागता है। इसने मुझे कई दुःखों से बचाया है। उस समय उन्होंने मुझे उस शोकावेग से बचाया, उधर ईश्वर ने मार्तण्ड को भी बचा दिया।

× × × ×

गणेशजी को दिन-रात देश की लगन लगी रहती थी। घर की कठिनाइयों से वे तङ्ग रहते थे किन्तु कभी उसमें देश-सेवा में फर्क न आने दिया। जागते-सोते, खाते-पीते सदा देश की बात करते। एक बार वे आराम पाने के लिए जुही में आकर रहे। बुखार आ गया। गणेशजी का लेक्चर शुरू हुआ। एक तो यों ही जानदार और जिन्दादिल आदमी, फिर बुखार की तेजी। देश की दुर्दशा और परवशता पर वह व्याख्यान उन्होंने सुनाया मानो कोई दैवी आत्मा बोल रही हो। हर एक शख्स आश्चर्य से उनकी ओर देख रहा था और उनपर बड़ा प्रभाव पड़ रहा था। जिसको बीमारी में भी देश की इतनी चिन्ता थी उसके लिए आज हजारों आदमी यदि आंसू बहावें तो कौन ताज्जुब की बात है ?

× × × ×

उनकी वीरता तो सर्वप्रसिद्ध थी। गणेशजी यदि वीर और निडर न हों तो कुछ थे ही नहीं। धमकी और हमलों के आगे कभी उन्होंने सिर नहीं झुकाया। सचाई को सदा माना है।

प्रकाशक,
गोकुलदास धूत
नवयुग साहित्य-सदन,
इन्दौर

प्रथम बार : १९५०
मूल्य
डेढ़ रुपया

मुद्रक,
न्यू इंडिया प्रेस,
नई दिल्ली

मानहानि के कई मुकद्दमे, कई वार की जेल-यात्राएं, यहाँ तक कि उनका अन्त भी उनके अद्‌भुत साहस और वीरता का अमर स्मारक वन गया है।

गणेशजी की उदारता भी वहुत वढ़ी-चढ़ी थी। मैं ऐसे कई सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं को जानता हूँ जिनका गणेशजी से मतभेद था, जिनसे गणेशजी को और उनके कामों को हानि पहुँची है। फिर भी गणेशजी ने समय पड़ने पर उनकी खुले दिल से सहायता की है। वे अपने लाभ-हानि की परवाह न करके मित्रों को सदा उनके भले के लिए सलाह दिया करते। उन्हें सदा काम की धुन रहती थी—शोहरत और वड़प्पन उनके दर्वाजे इन्तजार किया करते थे। वे केवल अखवार-नवीस न थे, वल्कि प्रेरक शक्ति थे, कर्मवीर थे। यों तो अव पं० जवाहरलालजी ने सारे देश के युवकों का दिल जीत लिया है, किन्तु संयुक्त-प्रान्त के ही नहीं और जगह के भी नवयुवकों, होनहार विद्यार्थियों, लेखकों, कवियों तथा देश-सेवकों को वे वरसों से अनुप्राणित और उत्साहित करते आ रहे थे। संयुक्त-प्रान्त में तो गणेशजी एक ठोस शक्ति और संस्था थे। गणेशजी एक केन्द्र थे, जहाँ से कई कामों का जन्म या सञ्चार होता था। वे सहस्रवाहु थे। किसानों पर गोलियाँ चलीं, गणेशजी दौड़ पड़े। मजदूरों की हड़ताल हुई, गणेशजी झपटे। कहीं देशी राज्यों में आन्दोलन चला, गणेशजी और उनका 'प्रताप' उसकी सहायता के लिए भी तैयार। वे कलम चलाकर नहीं वैठ जाते थे। जिस काम को हाथ में लेते उसके लिए जान तक लड़ा देने के लिए तैयार रहते।

गणेशजी ने एक छोटे-से मुकाम पर एक स्कूल मास्टर के घर में वहुत मामूली हालत में जन्म लिया। खुद अपने — अंग्रेजी, हिन्दी और उर्दू की का—

स्मरण-भक्ति

समय-समय पर मैंने बापू का गुण-गान किया है। बापू के चरणों मे पहुँचने के बाद मैंने जो कुछ किया है उन्हींके रङ्ग में रंग कर किया है। जो कुछ लिखा है, उन्हींकी स्फूर्ति से लिखा है। दूसरे महापुरुषों या नेताओं के प्रति भी अपनी अन्तर्भावना व्यक्त की है। किन्तु सब में स्वर एक ही है—गांधी-स्वर। भक्ति का पहला अङ्ग है स्मरण। अतः बापू की स्मृति में ये 'पुण्य-स्मरण' पाठकों की भेंट करता हूँ। आशा है, यह स्मरण-भक्ति पाठकों को बापू के पथ पर चलने में सहायक होगी।

सर्वोदय दिवस, १६५० ई०

गांधी आश्रम
हटूंडी (अजमेर)

हरिभाऊ उपाध्याय

विषय-सूची

मेरे हृदयदेव

श्रद्धाञ्जलि

: १ :

मेरे हृदय-देव !

सन् १६१६ के दिसम्बर की बात है। लखनऊ कुछ दिनों तक राष्ट्र-भक्तों के लिए तीर्थस्थान हो गया था। कांग्रेस के निमित्त देश के सब दलों के नेता एकत्र हुए थे। मैंने अपने जीवन में पहली बार उस दृश्य को देखा था। उन दिनों मुझे कोई स्वर्ग में भी ले जाना चाहता तो मैं इनकार कर देता। बरसों के बाद लोकमान्य तिलक कांग्रेस में पधारे थे। दर्शन करने वालों की भीषण भीड़ से परमेश्वर ही उनकी रक्षा करता था। लोकमान्य देश के और मेरे भी हृदय-सम्राट् थे। उनके चरण-स्पर्श करके मैंने अपना जीवन सार्थक किया। वह पवित्र स्मृति आज भी ज्यों-की-त्यों बनी हुई है।

महात्मा गांधी उन दिनों कर्मवीर गांधी कहलाते थे। दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह ने देश का ध्यान उनकी ओर खींच दिया था। भारत की सेवा करने के इरादे से वे यहाँ आ चुके थे। उनके दर्शन की लालसा से मैंने कई जगह धक्के खाये और जहाँ सुनता कि फलां जगह गांधीजी आने वाले हैं वहीं दौड़ा जाता। कई मील दौड़-धूप करने के बाद आखिर दूर हिंदू-सभा के मण्डप में उनके दर्शन हुए। उनके प्रथम दर्शन ने ही मेरा हृदय खींच लिया। नाटा कद, दुबला शरीर, सीधा-भोला दिखाई देने वाला चेहरा, तेजस्वी आँखें मेरे नेत्रों में सदा के लिए खिच गई। सिर पर काठियावाड़ी सफ़ेद साफ़ा या पगड़ी, बदन में

अँगरखा, कन्धे पर दुपट्टा, कमर में धोती और नंगे पांव वाली यह साधु-मूर्ति आज भी मेरी आँखों में अवतक नाचा करती है। हिंदू-सभा में और पीछे से महासभा के अधिवेशन में जो उनके दस-पाँच चुने हुए वाक्य मेरे कानों में पड़े और जिस गम्भीरता और शान्ति के साथ उनके मुँह से प्रकट हुए उससे उनके आत्मतेज और आत्मविश्वास का सिक्का मेरे हृदय पर जम गया। तव से 'लोकमान्य' के साथ-साथ 'कर्मवीर' ने भी मेरे हृदय के एक कोने पर अधिकार कर लिया।

× × ×

इसके वाद ही महात्माजी ने चम्पारन में अपने काम का श्रीगणेश किया। भारत के राष्ट्रीय इतिहास में शायद पहली ही वार एक भारतीय वीर ने सरकारी आज्ञा का सविनय निरादर किया और सरकार को अपनी आज्ञा वापस लेनी पड़ी। निलहे गोरों के अत्याचारों से विहार की प्रजा को वचाने के उद्देश से महात्माजी के प्रयत्न के फल-स्वरूप कमीशन की स्थापना हो चुकी थी और महात्माजी किसी जरूरी काम से पंजाव मेल द्वारा दिल्ली होते हुए गुजरात जा रहे थे। मैं जुही-कानपुर में रहता था, ख़वर पाते ही स्टेशन पर दौड़ा गया। सेकंड क्लास के एक दरवाज़े के ऊपर एक नंगे सिर और नंगे पैर वाली मूर्ति को देखा। वदन में एक मोटा कुरता, कमर में मोटी-छोटी धोती। उस समय उनके चेहरे पर जो निश्चय और तपस्या का तेज दिखाई दिया वही दर्शकों के लिए चम्पारन के उज्ज्वल भविष्य का पर्याप्त सूचक था। फिर शब्दों द्वारा जव उन्होंने अपना कठोर निश्चय प्रकट किया कि या तो निलहों के अत्याचारों से प्रजा की रक्षा होगी या ये हड्डियाँ चम्पारन में रह जायंगी तव तो मेरी आँखों में आँसू भर आये। इतने निर्भय और निःशंक वचन अपने कानों से सुनने का मेरा वह पहला ही अवसर था।

कुछ ही देर में टिकट-कलेक्टर टिकट देखने आया। गांधीजी ने अपने कुरते की जेब में हाथ डाला। लटकती हुई जेब सूत की एक महीन डोरी से बँधी हुई थी। यही शायद उनका 'मनी-बैग' था। उसमें से जब उन्होंने टिकट निकालकर दिया तब टिकटबाबू भी एक देहाती आदमी को सेकंड क्लास में सवार देख उनका मुँह ताकने लगा। दर्शकों के चेहरे विस्मय और सादगी के प्रभाव से खिल उठे।

इस प्रकार लखनऊ में 'कर्मवीर' के नाम से प्रसिद्ध और कानपुर में प्रत्यक्ष 'दृढ़व्रत' गांधी के दर्शन करके हृदय ने मन-ही-मन अपनी श्रद्धा की पुष्पाञ्जलि उनके चरणों पर चढ़ाई।

× × ×

१९१८ की फरवरी में इन्दौर में हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का आठवाँ अधिवेशन होने वाला था। 'मालवा' मेरी जन्मभूमि और हिंदी मेरी मातृ-भाषा। महात्माजी के पुनर्दर्शन की अभिलाषा और सुयोग। मेरे घर में सम्मेलन का आयोजन हो और मैं मेहमान बनकर जाऊँ! इस विचार से मुझे मन-ही-मन शर्म मालूम हुआ करती थी। पर कौटुम्बिक तथा दूसरी आपदाओं का पहाड़ मेरे सिर पर खड़ा था। आखिर ठीक समय पर जा पहुँचा; इसीको मैंने अपना बड़ा भाग्य माना। इस बीच महात्माजी 'महात्मा गाँधी' हो गये थे। खेड़ा जिले के सत्याग्रह की ओर सारे देश की आँखें लग रही थीं! वे धीरे-धीरे विविध प्रकार से अपने पराक्रम और पुरुषार्थ का लगातार परिचय देते जाते थे। इधर मैं भी कुछ अंश में सांसारिक विपदाओं और कुछ अंश में राष्ट्र-कर्त्तव्य की प्रेरणा से कौटुम्बिक कर्त्तव्यों से धीरे-धीरे उदासीन होता हुआ महात्माजी की ओर अधिकाधिक खिंचता जाता था। इन्दौर में मैंने जिस रूप में महात्माजी का दर्शन किया वह मेरे लिए एकदम नवीन था।

महात्माजी खासे क़ैदी बने हुए थे। उनका यही पहनावा आज भारत का राष्ट्रीय पहनावा हो गया है। चेहरा शरीर की दुर्बलता की गवाही दे रहा था ; पर उत्साह और तेज-तर्रारी देखकर लोग दँग रह जाते थे। खेड़ा के सत्याग्रह का काम अधूरा छोड़कर वह इन्दौर आये थे। उनकी बदौलत वह सम्मेलन अजरामर हो गया। सम्मेलन के अधिवेशन; विषय-निर्वाचिनी समिति, सार्वजनिक भाषण, तथा इतर कार्यों में दिन-रात व्यस्त रहते हुए भी उनके शरीर और दिमाग़ को थकते हुए किसीने न देखा। विषय-निर्वाचिनी समिति में जब मद्रास प्रान्त में हिन्दी-प्रचार के सम्बन्ध में विचार हो रहा था तब मैंने देखा कि महात्माजी की आकलन-शक्ति अद्भुत् है। थोड़े ही शब्दों और हाव-भाव से मन का आशय समझने में वे बड़े सिद्धहस्त हैं। बड़े-बड़े विद्वान् कार्यकर्ता और पदवीधर लोग वहाँ उपस्थित थे। पर ऐसा मालूम होता था कि सब महात्माजी के सामने अपने विचार प्रकट करते हुए झेंपते या सकुचाते थे और महात्माजी मानो किसी अन्तर्यामी की तरह एक दृष्टिपात में उनके हृदय का भाव समझकर नीचे देखने लग जाते थे। उस समय उनकी दृष्टि में जो भेदकता मैंने देखी उसने मुझे उनके महापुरुष होने के विषय में निश्चय करा दिया और अन्तिम दिन उन्होंने जो उपसंहारात्मक भाषण किया उसने तो सारे उपस्थित जनों का मन हर लिया और प्रायः प्रत्येक के हृदय में उनकी मूर्ति की प्रतिष्ठा हो गई।

अब मैं महात्माजी के भाषण आदि बड़े चाव से पढ़ने लगा और उनके कार्यों और गतिविधि का अध्ययन-मनन भी करने लगा। रौलट-ऐक्ट के आन्दोलन ने महात्माजी को भारतीय राजनीति के बीच मैदान में लाकर खड़ा कर दिया। लोकमान्य की मृत्यु के बाद तो महात्माजी ही देश के एकमात्र नेता

रह गये। लोकमान्य का स्थूल शरीर यद्यपि आज दुनिया में नहीं है तथापि उनकी आत्मा का तेज तो आज भी मुझे महात्माजी की आत्मा में प्रतिबिम्बित दिखाई देता है। अतएव तबसे महात्माजी मेरे लिए दोहरे पूज्य और वन्दनीय हो गये। अमृतसर की महासभा के तिलक-गांधी मतभेद ने और पीछे से कलकत्ता कांग्रेस के असहयोग प्रस्ताव-सम्बन्धी वाद-विवाद ने 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' तथा 'शठं प्रत्यपि सत्यम्' दोनों सिद्धान्तों के तुलनात्मक अध्ययन की ओर मेरा ध्यान खींचा। पहले मैं भी 'हन्ते को हनिए, पाप दोप ना गनिए' के न्याय का क़ायल था, लेकिन विचार, मनन और अध्ययन ने मुझे—

"अक्रोधेन जयेत क्रोधं असाधुं साधुनाजयेत ;
जयेत कदर्यं दानेन सत्येन अनृतञ्जयेत"।

की महत्ता, नित्यता, उच्चता, अजेयता और सात्विकता का क़ायल कर दिया। आज अपने को 'सत्याग्रही' कहने और मानने में मुझे बड़े गौरव और भारतीयता का अनुभव होता है।

× × ×

'हिन्दी-नवजीवन' निकालने के सम्बन्ध में जून १९२१ के अन्त में मैं बम्बई गया। महात्माजी और सेठ जमनालालजी बजाज के ही द्वारा उसके सफल होने की आशा थी। इस बार मुझे महात्माजी के जीवन के अध्ययन का प्रत्यक्ष मौक़ा मिला। तब से आज तक उनकी, उनके आदर्श की और उनके द्वारा भारतवर्ष और सारे संसार की थोड़ी-बहुत सेवा का सौभाग्य प्राप्त होता रहा है। बम्बई में मैं जिस दिन 'मणि भवन' में दर्शन के लिए गया, महात्माजी बम्बई के कितने ही नगर-सेठों के साथ विदेशी कपड़े के बहिष्कार के सम्बन्ध में चर्चा कर रहे थे। तिलक-स्वराज्य कोप-सम्बन्धी उनकी विजय ने प्रतिपक्षियों को

भी चकित कर दिया था। इधर महात्माजी तो स्वराज्य का क़िला सर करने के लिए एक के बाद दूसरा कदम धड़ाके से आगे बढ़ा रहे थे। ऐसे समय इंग्लैंड से आये हुए एक साहब—एक मेम और एक गुजराती साहब, मेरी तरह, महात्माजी के दर्शन के लिए उत्सुक बैठे थे। कोई दो घंटे बाद महात्माजी चर्चा खतम करके बाहर आये। रात के ९ बज गये थे। शहर के भिन्न-भिन्न विभागों में कोई तीन-चार सभाएँ होने वाली थीं। सब में महात्माजी को पधारना था। टेलीफ़ोन की घंटी बार-बार टन्-टन् करती थी और यहाँ से जवाब जाता था—ज़रा ठहरो, काम ख़तम करके आते ही हैं। बाहर आते ही महात्माजी ने कुरता और टोपी मांगी। इधर खड़े-ही-खड़े उन 'साहब-मेम' से बातें होने लगीं। गुजराती साहब ने कहा—'आपको याद होगा, जब आप लन्दन में बैरिस्टरी का अध्ययन कर रहे थे तब सर मंचरजी भावनगरी के सभापतित्व में आपका एक भाषण हुआ था। उसमें आपने यह प्रतिपादन किया था कि इंग्लैंड में रहने वाले गुजरातियों को यहाँ गुजराती में नहीं, अंग्रेज़ी में ही अपना काम-काज करना चाहिए। उस सभा का मंत्री मैं ही था।' इस-पर गाँधीजी ने आश्चर्य-भरी आँखों से हँसते हुए उनकी ओर देखा और पूछा—'क्या यह कहा था कि अंग्रेज़ी में ही काम-काज करना चाहिए ?' गुजराती साहब ने निःसंकोच भाव से कहा—'जी हाँ'। फिर गाँधीजी ने पूछा—'क्या अंग्रेज़ी में ही ?' उत्तर मिला 'जी, हां।' तब महात्माजी ने खिल-खिलाकर हँसते हुए निश्चय के स्वर में कहा—'तो फिर वह कोई दूसरा गाँधी होगा। मैंने तो ज़िन्दगी में किसी गुजराती को यह सलाह नहीं दी कि अपनी भाषा छोड़कर अंग्रेज़ी में अपना काम-काज करो। हाँ, एक सभा की बात मुझे खूब याद है। लेकिन उसमें मैंने गुजराती में ही काम-काज करने के लिए कहा था।' सुनते

ही गुजराती साहब अपनी भूल समझ गये और लजाते हुए कहा—'जी हाँ, आप बहुत ठीक कहते हैं। गुजराती की जगह अंग्रेजी में मेरे मुँह से बराबर निकलता गया। माफ़ कीजिएगा।'

उस दिन रात को कोई दो बजे तक सभाओं में महात्माजी को भाषण आदि देने पड़े। रोज़ सुबह से रात के १०—११ बजे तक दर्शन करने वालों, शंका समाधान करने वालों, सलाह लेने वालों, प्रचार करने वालों आदि तरह-तरह के कार्यकर्ताओं का ताँता लगा रहता था। सब से बराबर शान्ति और गम्भीरता के साथ महात्माजी बातचीत करते, समझाते और राह बताते। सितम्बर तक बहिष्कार का कार्यक्रम पूरा करने का भार सिर पर था। दिसम्बर तक स्वराज्य स्थापित करने की तैयारी हो रही थी। पर जब-जब मैं दर्शन के लिए गया, उन्हें कभी उद्भ्रान्त, उद्विग्न या शंकित-चित्त नहीं देखा। 'यङ्ग-इण्डिया' और 'नवजीवन' की सामग्री बराबर मङ्गलवार और गुरुवार तक भेज दी जाती थी। अपने लेख और टिप्पणियाँ महात्माजी खुद लिखते थे। कितनी ही चिट्ठियों के जवाब भी खुद ही देते थे। इस अवसर पर मुझे महात्माजी की कार्यक्षमता, कार्य-तत्परता, व्यवहार-कुशलता और मोहिनी शक्ति का जो अनुभव हुआ वह बराबर बढ़ता ही गया। जुलाई के अन्त में महासमिति की बैठक बम्बई में हुई। पहली अगस्त को विदेशी कपड़ों की होली का मंगलाचरण होने वाला था। युवराज के स्वागत-बहिष्कार, सितम्बर तक विदेशी कपड़ों का बहिष्कार—ये दो विषय प्रधान-रूप से लोगों की ज़बान पर थे। प्रत्येक प्रान्त के नेता और प्रसिद्ध कार्यकर्ता उपस्थित हुए थे। खादी के पहनाव में पहली महासमिति की बैठक यही थी। लालाजी से लेकर पं० मोतीलालजी और श्रीयुत केलकर तक के सिर पर खादी टोपी और देशबन्धु विजयराघवाचार्य से लेकर प्रायः सब छोटे-बड़ों के बदन पर

खादी देखकर मेरी आँखों में हर्ष के आँसू छलछला आते। जब मैं बम्बई गया था तो उन दिनों इक्के-दुक्के के सिर पर वहाँ गाँधी-टोपी दिखाई देती थी। पर एक ही महीने में एक अगस्त तक वहाँ लाखों लोगों के सिर पर खादी टोपी चमकने लगी। जिस दिव्य शक्ति का यह प्रभाव था उसपर मैं मन-ही-मन मुग्ध और न्यौछावर हुआ जाता था।

महासमिति में जब कोई सदस्य महात्माजी के प्रतिकूल बोलने के लिए खड़ा होता तब उसकी निर्भयता और साहस को देखकर उनका चेहरा खिल उठता और जब कोई व्यावहारिक दृष्टि को आगे बढ़ाकर उनके तत्वज्ञान और आदर्शवाद की वृत्ति पर कटाक्ष करता तब तो वे खिलखिलाकर हँस पड़ते थे। पर जब कोई उनके पक्ष में बोलने के लिए उठता तब मानो संकोच से उनका चेहरा गम्भीर हो जाता। उनकी हँसी मुझे प्रतिपक्षी के हृदय पर क़ब्ज़ा करने वाली दिखाई देती। उनकी गम्भीरता में मैं अपनी बहुमति का विश्वास और निश्चय देखता। उनके मौन में मुझे प्रतिपक्षी के प्रति दया-भाव और कभी उसकी भूलों पर उपेक्षा-भाव मालूम होता। उनके प्रत्येक अंग-विक्षेप को मैं अर्थहीन नहीं पाता था। जब नीची निगाह करके वे विरोधियों के आक्षेपों का उत्तर देने लगते तब ऐसा मालूम होता मानो तूफ़ानी समुद्र में से कोई होशियार कप्तान अपने बेड़े को खूबसूरती और सावधानी के साथ, परन्तु निश्चित-रूप से, लक्ष्य की ओर बढ़ाये ले जा रहा है। कभी-कभी कोई बड़े ज़ोर के साथ कटाक्ष-बाण फेंकता, पर वह वहाँ जाकर फूल हो जाता। शिष्टता, नम्रता और कुशलता के साथ उनके व्यवहार में ऐसी दुर्दमनीयता और प्रबल वेग दिखाई देता था कि वह सबको बरबस अपनी दिशा में खींच ले जाता था। वाक्चातुर्य और समय-सूचकता का परिचय उनकी प्रत्येक बात से मिलता

था। उनका विनोद भी सारहीन नहीं, बल्कि सूचक और प्रेरक होता था।

× × ×

अहमदाबाद में जब-जब मैं उनके दर्शन के लिए जाता तब-तब मैं उन्हें भिन्न-भिन्न रूपों में देखता—वे कभी नेता, कभी राजनीतिज्ञ, कभी सेनापति, कभी लेखक, कभी सम्पादक, कभी पिता, कभी महात्मा और कभी सूतकार दिखाई देते। उनकी आत्मा में मैं भारत की आत्मा को छिपी हुई देखता। कौपीन-धारी महात्मा मुझे भारतीय किसानों और मजदूरों के प्रतिनिधि, चरखा कातने वाले महात्मा दीन-दुर्बल लोगों के अवलम्ब, पेन्सिल से 'यंग इंडिया' और 'नवजीवन' के लिए लेख लिखने वाले महात्मा भारत की संस्कृति के नेता और प्रचारक और अपनी जाँघ पर से साँप को निकल जाने देने वाले महात्मा मुझे दया-धर्म के अवतार नजर आते। मनु और लक्ष्मी के साथ किलोलें करते हुए महात्माजी मुझे वत्सल पिता, कार्यकर्ताओं को इधर-उधर तैनात करते हुए महात्माजी सेनापति दिखाई देते। किसी शंकाकर्त्ता से भवें चढ़ाकर मुस्कराते हुए हँस-हँस कर बात करने वाले महात्माजी मुझे 'गुरुदेव' देख पड़ते और मैं मन-ही-मन कहता—

अज्ञानान्धस्य लोकस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः॥

अहमदाबाद की कांग्रेस के समय महात्माजी को जितना निश्चिन्त, प्रसन्न और प्रफुल्ल देखा उतना पहले कभी नहीं देखा था, यद्यपि उस समय की स्थिति ऐसी चित्तवृत्ति के ठीक उलटी दिखाई देती थी। वीरों का यह स्वभाव ही होता है कि जब प्रतिकूल परिस्थिति का सामना करना होता है तब उनके हृदय में अधिक उत्साह और वीरता का सँचार हो आता है। इसी

तरह सावरमती जेल में भी उन्हें मैंने प्रसन्न और निःशंक देखा।

× × ×

कुछ लोग महात्माजी को व्यवहार-दृष्टिहीन और एकाँगी मानते हैं। पर मेरा यह ख़याल है कि जिन्होंने उनके एक ही अंग को देखा है वे और क्या कह सकते हैं? भिन्न-भिन्न विचार, आचार और स्वभाव वाले छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े लोगों को एक दिशा में कार्य करने के लिए प्रवृत्त कर देने वाले और फिर भी किसीके प्रभाव से प्रभावान्वित न होने वाले व्यक्ति को व्यवहार-दृष्टिहीन कहना धृष्टता है। हाँ, उनकी व्यवहारकुशलता आदर्शमय है। जिसकी कुशलता ने देश में खुफ़िया पुलिस को बेकार कर दिया, हज़ारों षड्यन्त्रकारी लोगों को खुला मैदान काम करने का रास्ता दिखाया, मुसलमानों और हिन्दुओं का एका बढ़ाया, मुसलमानों पर गौ की रक्षा और हिन्दुओं पर ख़िलाफ़त की रक्षा और दोनों पर स्वराज्य की प्राप्ति का भार लाकर रख दिया, उसे कौशलहीन कहना मुझे तो अपने अज्ञान का परिचय देना ही मालूम होता है।

× × ×

महात्माजी के पास मैंने गुप्त अथवा खानगी बात कोई नहीं देखी। उनका दीवानख़ाना हर वक़्त हर शख़्स के लिए खुला रहता था। हाँ, दूसरे की ख़ानगी और गुप्त बातों को वे अवश्य हिफ़ाज़त से रखते थे। और यह सर्वथा उचित भी है। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि किसीको कोई ख़ानगी बात उनसे करनी होती तो उन्हें दूसरे कमरे में जाकर बात करनी पड़ती। उनके साथ के प्रत्येक व्यक्ति के साथ मैंने उनका व्यवहार ऐसा प्रेममय और निर्दोष देखा कि हरएक को यही मालूम होता कि महात्माजी सबसे अधिक प्रेम मुझपर ही करते हैं। उनका

सांसारिक जीवन मुझे जल में कमल की तरह दिखाई देता।

× × ×

आज वे अपने तप के द्वारा बुद्ध, महावीर और ईसामसीह का मानो संशोधित संस्करण ही अपने को साबित कर रहे हैं। वे अबतक के पैग़म्बरों और अवतारों के गुणों से युक्त और त्रुटियों से हीन मालूम होते हैं। सत्यदर्शन अथवा आत्मप्राप्ति में निरंतर प्रगतिमान् हैं। उनके विकास की सुगन्ध से वायुमण्डल ओत-प्रोत हो रहा है। परमात्मा हम भारतवासियों को वे आँखें दें जिससे हम उनकी दिव्यता को देख सकें और उनके विश्व की संपत्ति बनने के क्रम में हमें अपना उद्धार कर लेने की बुद्धि उपजे।

अक्तूबर, १६२२

: २ :

उनकी महिमा

'हिन्दी-नवजीवन' के दो-तीन महीने बाद मेरे मित्र बाबू सम्पूर्णानन्द ने मुझे लिखा कि 'मर्यादा' के लिए आप महात्माजी के सम्बन्ध में अपने विचार और अनुभव लिखकर भेज दीजिए। उस समय मुझे ऐसा मालूम हुआ मानो मेरे सिर पर किसीने पहाड़ लाकर रख दिया, या यह प्रेम-कठोर आज्ञा दी कि किसी महासागर को तैरकर पार हो जाओ। सुदैव से थोड़े ही दिनों के बाद बाबू साहब को संयुक्तप्रान्त की सरकार ने अपना मेहमान बनाकर मेरी चिन्ता दूर कर दी। पर जेल से छूटते ही फिर उन्होंने मेरे सामने वही समस्या खड़ी कर दी। मैंने ज्यों-त्यों करके एक लेख लिखा—'मेरे हृदयदेव'। यह एक ही शब्द इस बात को बतलाने के लिए काफ़ी है कि पू० बापूजी के नज़दीक मैंने अपने लिए कौन-सा स्थान तजवीज़ किया है। एक ओर 'अन्ध श्रद्धा' और दूसरी ओर 'अन्ध अश्रद्धा' के इस आक्षेप-काल में मेरी स्थिति पर यदि कुछ मित्र आपत्ति करें, मेरे प्रति दया दिखावें, तो आश्चर्य की बात नहीं। क्योंकि ईश्वर, भक्ति, श्रद्धा, धर्म, अध्यात्म आदि प्राचीन शब्दों पर, अपने तपस्वी पूर्वजों के परिश्रम फल पर कटाक्ष करने का, उनका उपहास करने का मार्ग कुछ लोगों ने अपने लिए निष्कंटक मान लिया है। वे यह समझते हैं कि श्रद्धा और बुद्धि की शत्रुता है और अपने को बुद्धिमानों की श्रेणी में मानने के कारण बुद्धि का अपमान

या तिरस्कार किये बिना वे श्रद्धावान् नहीं हो सकते। मैं बुद्धि-मान् होने का दावा नहीं कर सकता। मुझे तो 'सेवक' कहलाने में अपना जीवन सार्थक मालूम होता है और जब मैं देखता हूँ कि एक ओर स्व० देशबन्धुदास, कार्य-कुशल स्व० लालाजी, त्यागमूर्ति स्व० नेहरूजी, व्यवहार-बुद्धि केलकर जैसे गरम राजनीति-वीर और भारत-भूषण मालवीयजी, माननीय शास्त्रीजी जैसे मधुर और नम्र राजनीति-प्रिय तथा दूसरी ओर कवि-सम्राट् रवीन्द्र, विज्ञानाचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय जैसे स्वदेशी नर-रत्न और होरस, रोम्याँ रोलाँ, सनयातसेन, वाल्स, एण्ड्रूज आदि विदेशी गुण-ग्राहकों की बुद्धि जिसकी राजनीति-निपुणता, असामान्य देशभक्ति, सचाई, पवित्रता, तपस्या और माहात्म्य का लोहा मानती है और जिहा मुक्तकंठ से कहती है कि महात्मा गांधी उन उज्ज्वल आत्माओं में से हैं जो हजारों वर्षों में कभी-कभी संसार में अवतीर्ण होती हैं; जब उन्हें आज सारी दुनिया में अनेकांश में उनकी टक्कर का महापुरुष दूसरा नहीं दिखाई देता तब पाठकों को, यदि मुझ-जैसा मामूली प्राणी उसे अपने हृदय का देव मानकर उसकी पूजा करे; उनका अनुयायी होने का प्रयत्न करे, उसके दर्शन से अपनी आत्मा को सजीव, उपदेश से उन्नत और सत्संग से पवित्र होती हुई माने तो क्या आपको इसपर आश्चर्य होगा? और जब मैं अपनी आँखों से देखता हूँ कि अनेक वाद-ग्रस्त विषयों और लड़ाइयों में रत रहते हुए भी उस पवित्र आत्मा का आज सारे भूमण्डल में एक भी शत्रु नहीं है, जिसके तनिक ही सहवास और प्रयास से मैंने शराबियों को शराब छोड़ते हुए, व्यभिचारियों को पातिव्रत की रक्षा करते हुए, चोरों, डाकुओं, और कुचालियों को सज्जन बनते हुए देखा; जिसके प्रोत्साहन से कायरों को वीरता के साथ हँसते हुए, कष्ट-सहन करते हुए देखा है; दुर्व्यसनों में लिप्त,

भोग-विलास में चूर, धन-यौवन के गुलाम लोगों को धार्मिक और पवित्र होते हुए देखा है; नास्तिकों को आस्तिक, हिंसा-वादियों को अहिंसा-व्रती, निराशावादियों को आशावादी, फैशनेवल लोगों को सीधा-सादा, रहन-सहन-प्रिय होते देखा है; जिसको मैं मामूली आदमियों में से नेताओं का निर्माण करते हुए देख रहा हूँ; विरोधी भावों, मतों और जातियों को एकता के सूत्र में बांधते हुए—उनका सामञ्जस्य करते हुए देखता हूँ; एक गिरी हुई जाति को मनुष्यत्व के पद पर ऊँची उठाते हुए देखता हूँ; मैं उसकी मूर्ति को अपने हृदय में रखूँ तो कौन-सी बुराई है? जब मैं देखता हूँ कि वह वीर की तरह अन्यायों, अत्याचारों और पापों तथा उनके हिमायतियों से खम ठोंककर जी-जान से लड़ता है और आप हमको लड़ाता है और दूसरी ओर एक माता की तरह उन अज्ञ, अज्ञान, रोगी भाइयों पर प्रेम की वर्षा करता है, हमें प्रेम का पाठ पढ़ाता है और सेवा के पारितोपिक-रूप ज़ालिमों के जेलखानों को पवित्र बनाता हुआ दो हज़ार वर्ष पहले ईसा का स्थान प्राप्त करता है तब यदि मैं उसे भावी सन्तति का राम-कृष्ण मानूँ तो क्या बेजा? बुद्ध और ईसा-मसीह तो लोग उसे आज भी मानने की तैयारी कर रहे हैं!

पूज्य बापूजी मेरे ही हृदय-देव नहीं, सच पूछिए तो ३३ करोड़ भारतवासियों के हृदय-देव हैं। कौन ऐसा भारतीय हृदय है जहाँ उनके लिए स्थान नहीं, जिसे उन्होंने अपना घर न समझा हो? भारत की राज्य-लक्ष्मी चली गई; उन्होंने उसे आज़ादी का स्वाद चखाया, स्वराज्य का राज्य-मार्ग दिखाया; भारत फ़क़ाकशी की नुमाइश हो रहा था; उन्होंने उसे खादी पर फ़िदा होने की नसीहत दी। भारत विदेशी सभ्यता का गुलाम होकर भारतीयता की जड़ काट रहा था, अपनी बपौती को

पश्चिमी महासागर में डुबो रहा था, उन्होंने उसे स्वाभिमान, स्वावलम्बन का पाठ पढ़ाया, सच्चे स्वदेशी-धर्म की दीक्षा दी। पशुबल के अधीन भारत पशुबल को आदर्श मानकर पशुत्व की ओर क़दम बढ़ा रहा था, उन्होंने अहिंसा के उपदेश के द्वारा उसे मानव-बल देकर उसे मनुष्यता की ओर फेरा। भारत नास्तिकता के रंग से रंगा हुआ निराशा के मूर्च्छा-विष को पी रहा था। उन्होंने धर्म की महिमा की प्रतिष्ठा कर आशावाद का सन्देश उसे सुनाया। भारत फूटभेद-अस्पृश्यता के रोगों से जकड़ा हुआ था, उन्होंने उसे एकता और समता की दिव्य रसायन दी। भारत भय, असत्य, कायरता का शिकार हो रहा था, उन्होंने उसे निर्भयता, सत्य और वीरता के शस्त्रास्त्र प्रदान किये।

कौन कह सकता है कि महात्मा गांधी भारत के लिए ईश्वरीय वरदान-रूप नहीं हैं, प्रसाद-रूप नहीं हैं, देवदूत नहीं हैं?

सन्, १९२२

: ३ :

पराजय का वीर

पराजय ! तू किस बुरी घड़ी में पैदा हुआ ! इतिहास तेरा गर्व नहीं करता, कवि तुझपर न्योछावर नहीं होते, राजा तेरी ओर आँख उठाकर नहीं देखते, कोप तेरा गुण-गान नहीं करते, विद्वान् तुझपर लट्टू नहीं होते, सर्वसाधारण तुझे हेय दृष्टि से देखते हैं, तुझे पतित-नीच-निकम्मा समझते हैं। दुनिया में कौन ऐसा है, जो तेरा मुँह देखना चाहता हो ?

दुनिया समझदारों की बपौती नहीं, उसमें पागल भी हैं, मतवाले भी हैं। दुनिया जय को पूजती है; ये पागल पराजय को पूजते हैं। दुनिया जय-जयकार में मस्त है, ये पराजय के गीत गाते हैं। इतिहास जय को पहचानता है; जय के वीरों को अमर बनाने की कोशिश करता है; ये पगले पराजय को खोजते हैं, पराजय के वीर को अपने हृदय की मूर्ति बनाकर उसके चरण चूमते हैं।

संसार क्या है ? संसार का विकास क्या है ? जय और पराजय, जय का बोलबाला, पराजय का मुँह काला। जय हमें इतना प्रिय क्यों है ? पराजय में इतनी बदबू क्यों आती है ? क्या विजय दुनिया के भले के ही लिए होती है, हुई है ? क्या पराजय पर अत्याचार, अन्याय नहीं होते ? क्या जय अत्याचारी, अभिमानी नहीं हो जाता ? क्या पराजय भला, पाप-भीरु, निर्दोष नहीं होता ? फिर क्यों हम जय को पूजते हैं और परा-

जय से घृणा करते हैं ? जय का प्रताप हमारी आंखों को चौंधिया देता है और पराजय की आत्मग्लानि से हम चौंक उठते हैं ? जय का उन्माद और पराजय की शालीनता, जय का गरूर और पराजय की नम्रता को उनके असली रूप में हम नहीं देख पाते। जय के हर्षनाद में पराजय की हाय को हम भूल जाते हैं। जय के तेज में मनुष्य की मूलभूत दुर्बलताएँ छिप जाती हैं; उसका सच्चा बल, पौरुष, तेज और पराक्रम तो पराजय की म्लानता में ही दमकता है। जय नहीं, पराजय में मनुष्य की सच्ची कसौटी होती है।

दुनिया के 'जय' और 'पराजय' शब्द धोखा देने वाले हैं, भटकाने वाले हैं। राम ने रावण को मारा। दुनिया ने उन्हें विजयी कहा। विजयादशमी राम के विजय की स्मारक मानी जाती है। पर पागलों का रास्ता दुनिया से जुदा है। यह विजयी राम उन्हें उतना अपना नहीं मालूम होता, जितना सीता को खो देने के बाद वियोगी, व्यथित राम। विजयी नहीं, यह हारा हुआ राम उनका राम है। सिंहासन पर अभिषेक कराने वाले, छत्र-चँवर से मण्डित, हनुमान-सेवित राम उनकी नजरों में उतने ऊँचे नहीं उठे, जितने सीता की खोज में वन-वन भटकने और रोने वाले राम !

दुनिया कहती है, रावण को मार कर राम विजयी हुए; ये पागल कहते हैं, सीता को खोकर राम पराजित हुए। लोग कहते हैं, राम विजयी वीर हैं; ये दीवाने कहते हैं, वे पराजय के वीर हैं।

दुनिया पाण्डवों को अबतक विजयी मानती चली आ रही है; पर महाभारत के मार्मिक रचयिता ध्वनित करते हैं कि पाण्डव विजयी होकर भी पराजित रहे। महाभारत का पठन वहीं तक उत्साहप्रद और स्फूर्तिदायक मालूम होता है, जबतक हम पराजित

पाण्डवों के साथ वनों में घूमते-फिरते हैं। परन्तु ज्यों-ज्यों पाण्डव उस पराजय को पराभूत (?) करते जाते हैं, ज्यों-ज्यों वे अपने वनवास और अज्ञातवास से निकलकर अपनी विजय की ओर बढ़ते जाते हैं। त्यों-त्यों हमारे दिल पर एक भयानक छाया गिरती जाती है। हृदय विषण्ण होता जाता है और वह चाहता है कि क्या ही अच्छा होता, यदि वेदव्यास यहीं कहीं महाभारत को समाप्त कर देते! विजय के बाद अर्जुन हतश्रम और हतबल हो गये। चोरों से अपने आश्रितों की रक्षा न कर सके; युधिष्ठिर सारे कुल के संहार पर दुःखी हो हिमालय में गलने चले गये; सारे कौरव, पाण्डव और यादव-वंश का नाश अपनी आँखों से देखकर उदासीन कृष्ण एक व्याध के तीर से तिरोहित हुए—यह जय है या पराजय? दुनिया इसे जय कहती हो, पागल इस जय को पराजय की पेशबन्दी कहते हैं।

दुनिया ईसा को पराजित मानती थी। वह दीवाना, मतवाला था। उसका एक उद्देश्य था, धुन थी, लगन थी। दुनिया ने उसे सताया; काँटों का ताज पहनाया, अन्त में सूली पर चढ़ा दिया। वह चढ़ गया। उसका चेहरा खिला हुआ था—पर हृदय में एक दर्द था, एक आह थी! दुनिया ने उसके लहू-लुहान शव को देखकर कहा—यह गया, मिट गया! पर उस पराजय के पुतले की करुणाभरी चितवन, विशाल मुखमण्डल की दयामयी विषण्ण आभा उसकी विजय की ज्योति छिटका रही थी। हम देखते हैं कि इस तरह पराजित होकर भी आज वह विजयी है।

मीरा को उसके लोग बावली, बहकी हुई और बिगड़ी हुई मानते थे। उसे हराने को डिबिया में साँप भेजा और अन्त को ज़हर का प्याला पिलाया गया। पर पराजय के मानवी प्रहार बेकार हुए। वह जीती-जागती विजयिनी हुई। दुनिया के पराजय की नाप ग़लत साबित हुई।

और दयानन्द के लिए कल तक क्या शास्त्री लोग 'पराजित-पराजित' नहीं चिल्लाते थे ? क्या उसे हराने में, सताने में कोई कसर की गई ? ज़हर ने उसके शरीर को भस्म कर दिया, लोगों ने उस समय चाहे समझा भी हो कि दयानन्द ख़तम हो गया; पर उसकी भस्म उड़-उड़कर विजय-घोष कर रही थी—मैं किसी को क़ैद कराने नहीं, दुनिया को मुक्त कराने आया हूँ। हम देखते हैं कि 'धर्म को डुबोने वाला' वह दयानन्द आज घर-घर में विजयी है।

इसी तरह गांधी आज पराजित है। लोग कहते हैं, गांधी हो लिया। असहयोग का विजयी गांधी अब दुनिया में नहीं है। वह चिल्लाता है, लोग मुँह फेर लेते हैं। वह रोता है, लोग हँस देते हैं। वह कातता है, लोग मुँह बना देते हैं। लोग तिरस्कार करते हैं, उपहास करते हैं, वह खिल-खिलाकर हँसता रहता है। वे कहते हैं गांधी हार गया, हथियार रख दिये, मैदान से भाग गया। वह अपने पथ पर अटल है, तीर की तरह अपने निशानों पर चला आ रहा है। लोग कहते हैं—वह भूला हुआ है, वह अपनी धुन में मस्त है। लोग विजय को प्रणाम करने के लिए लालायित हैं, वह पराजय का वीर बना हुआ है। लोग विजय के वीर की खोज में हैं। वह पराजय का वीर पराजय में विजय को देख रहा है। लोग उदास हैं, चिढ़े हुए हैं, प्रकृति स्तब्ध है, हवा बन्द है; वह वैरागी दूर एक ऊँचे टीले पर अपनी धूनी रमाये हुए मगन बैठा है। लोग पराजय से भयभीत होकर हताश-से हो रहे हैं। वह दूर विजय की किरणों को आता हुआ देख रहा है; वह जय में भी वीर था, आज पराजय में भी वह वीर चमक रहा है। असहयोग के वीर गांधी ने दुनिया को चका-चौंध में डाल दिया था, लोग कहते थे, गांधी विजयी हुआ ही चाहता है। वह कहता था—नहीं, अभी देर है। विजय

इतनी सस्ती नहीं हुआ करती। जय के नारों में गांधी का स्वाभाविक तेज और ओज छिप जाता था। आज पराजय की बौछार और फटकार में वह अपना असली जौहर दिखा रहा है। यों देखा जाय तो आज का यह पराजित गांधी दुनिया की दृष्टि में नगण्य है, दुनिया उस जय के गांधी को पूजती थी; पर ये मुट्ठी-भर दीवाने तो इस पराजय के गांधी पर क़ुरबान हैं, विजयी गांधी नहीं, प्रतापी गांधी नहीं, साधु गांधी; दीन-दुखियों के लिए रोने और मरने वाला दुःखी, दयामय गांधी उनके हृदय का अधीश्वर है। दुनिया ने जिसे हरा दिया, हारा हुआ कहकर जिसे कोने में फेंक दिया, वही इनका हृदयदेव है, वही इनका तारनहारा है। विजयी और प्रतापी गांधी को चाहने वाले आज दुनिया में चाहे ज्यादा हों पर वे दिन-दिन कम होते जायँगे और यह सन्त व्यथित गांधी तो प्रकृति के कण-कण में व्याप्त होता हुआ सदा अमर रहेगा और सारी जनता के द्वारा पूजित होगा। दुनिया की नज़र में गांधी विजय के दिनों में जितना चमका था, वास्तव में उससे कहीं अधिक स्वच्छता, तेजस्विता के साथ आज, पराजय के युग में, वह चमक रहा है। विजय के वीर से अधिक शोभायमान आज यह पराजय का वीर है!

सितम्बर, १९२७

: ४ :

अमरता की गोद में

लड़के नाटक का खेल दिखा रहे थे । महात्माजी अपना चर्खा कात रहे थे । मैंने देखा, महात्माजी के चेहरे पर पीलापन छा रहा था । विद्यापीठ से आश्रम को वे इन एक-दो दिनों में दो-तीन बार आते-जाते थे । आश्रम के विद्यार्थियों ने अपने विद्या-मन्दिर के वार्षिकोत्सव का आयोजन किया था । शायद उसी दिन सुबह कुछ देर हो जाने से महात्माजी ने कुछ दौड़कर भी समय पर पहुँचने की कोशिश की थी । सुबह के कार्य-क्रम में कुछ देर तक धूप में भी बैठे रहे । इधर कांग्रेस से लौटने के बाद से दूध लेना बन्द कर दिया था—बादाम और नारियल का दूध बनाकर पीते थे । इस बात का प्रयोग, बुढ़ापे में शुरू कर दिया था कि बिना दूध के भी मनुष्य रह सकता है और दूध का गुण देने वाले दूसरे पदार्थ भी हैं । वे शायद यह समझते हैं कि और बातों में तो मैंने अपना सन्देश दे दिया, व्यवहार-विधि भी बहुत-कुछ बता दी; अब एक काम रह जाता है, इसको भी करता जाऊँ । इस लोभ में दूध बन्द कर दिया था, खुराक कम लेते थे, वजन कम होता जाता था, शरीर दुबला पड़ता जाता था । इधर गुजरात-विद्यापीठ की पुनर्रचना की धुन में मन पर काफी परिश्रम का बोझ पड़ रहा था । फिर आश्रम के उत्सव में आने की दौड़-धूप ! इस पीलेपन में इतना इतिहास छिपा हुआ था । जमनालालजी ने भी देखा कि बापू कुछ उदास मालूम होते

हैं। उन्होंने एकाध ऐसी बात छेड़ी, जिससे हँसी आवे। पर महात्माजी हँसे नहीं। थोड़ी ही देर में उन्होंने चर्खा कातना बन्द कर दिया, एक विद्यार्थी तार लपेटने लगा। सब लोगों का ध्यान नाटक की ओर लगा हुआ था। एकाएक मैंने देखा कि महात्माजी मीराबहन के कंधे का सहारा लेकर उठ रहे हैं। मुझे आश्चर्य हुआ कि यह क्या? मैंने सोचा कि बुढ़ापा है, फिर इधर कमजोरी ज्यादा आ गई है; उठते समय सहारा लेने की जरूरत पड़ गई हो। मीराबहन एक ही दो क़दम आगे बढ़ी होंगी कि पैर लटक गये, शरीर का सारा बोझ मीराबहन पर आ गया। जमनालालजी ने मुझे सचेत किया—फ़िट आ गया, पैर सम्हाल लो। मैं झपटा और लटकते हुए पैरों को सहारा दिया। भाई भी दौड़ पड़े और सबने महात्माजी को हाथों पर सम्हाल रखा। लड़कों का खेल बन्द हो गया—सन्नाटा छा गया। महात्माजी का सारा शरीर पीला पड़ गया। आंखें खिंच आईं। इतनी पीली पड़ गईं कि देखकर रुलाई आने लगी। गरदन लटक गई। बहुत-से लोगों ने समझ लिया कि बापू चल बसे। मुझे तो ऐसा मालूम हुआ, सारा ब्रह्माण्ड सूना हो गया। कुछ ही दिन पहले मेरी माताजी का स्वर्गवास हुआ था। अन्त समय उनके शरीर की जो अवस्था हो गई थी वही चेष्टाएँ महात्माजी के शरीर की इस समय दिखाई पड़ीं। एक ही दो दिन पहले महात्माजी ने प्रार्थना के समय प्रवचन करते हुए कहा था—'मरना तो ऐसा कि चर्खा कात रहे हैं, कातने-कातते दम निकल गया। बात कर रहे हैं, बोलते-बोलते साँस छूट गई।' मेरे मन में हुआ, महात्माजी मृत्यु का भी पदार्थ-पाठ दे गये। मौत भी करके दिखा दी। वह एक पुनीत दृश्य था। शोक, करुणा, उदासीनता, चिन्ता, उद्विग्नता का अजीब मिश्रण लोगों के चेहरे पर छा गया था। कोई देश के भविष्य की चिन्ता में डूब गया था, कोई आश्रम के सोच

में पड़ गया था। किसीके सामने खुद अपनी समस्याएँ खड़ी हुई थीं। किसीको बापू के मिशन की फ़िक्र थी। मेरे मन में उस समय क्या-क्या भाव उठे, यह लिखना शक्ति के बाहर है। या तो हृदय भाव-शून्य हो गया था, या वे इतनी मात्रा में और इतनी तेजी से आते-जाते थे कि उनका स्मरण रहना असम्भव था। मैं तो बड़ी कठिनता से अपनी रुलाई रोके उनके पैरों में सोंठ मलता रहा। इसीको मैंने बड़ा अहोभाग्य माना। जिसे मैंने अपना हृदय-देव बनाया है ऐसे समय उसकी चरण-सेवा करने का समय मिला—उस महा अन्धकार में यह भाव एक प्रकाश-रेखा-सा मेरे हृदय को आश्वासन दे रहा था। ढाई-तीन मिनट में महात्माजी ने आँखें खोलीं। नजर सीधी रंग-मंच की ओर गई। कष्टपूर्वक मुरझाये मुख से आवाज निकली—'खेल क्यों बंद कर दिया, उसे जारी करो।' यह शब्द सुनते ही उधर लड़कों का खेल फिर शुरू हुआ, उधर हम लोगों के गये प्राण मानो फिर लौट आये। ब्रह्माण्ड फिर हिलता-डोलता मालूम हुआ। ५-७ मिनट बाद महात्माजी ने पूछा—'मेरा सूत कितना हुआ है, गिना? कितना कम है?' एक ने कहा—'१६ तार कम हैं।' हुक्म हुआ—'मेरा चर्खा लाओ, शेष तार कातना है।' आसपास वालों के खिले चेहरे फिर मुरझाने लगे। प्राण तो शरीर में अभी लौटे ही नहीं हैं और बैठकर चर्खा कातने का आग्रह! राम, यह कैसा बे-पार है। जमनालालजी ने बुरा मुँह बनाकर कहा—बापूजी, अब आज न कातें तो न चलेगा?' उत्तर मिला—'यह कैसे हो सकता है?' इस समय महात्माजी के चेहरे का भाव मानो कह रहा था—'जमनालालजी, तुम तो ऐसा न कहते?' शंकरलाल भाई को तो चर्खा कातने की बात एकबारगी असह्य हो गई। एक तो उनको यह इलज़ाम रहा ही करता है कि बापू शरीर की पर्वा नहीं करते। फिर ऐसे समय चर्खा कातने का

आग्रह इन्हें इतना बुरा लग रहा था मानो बापू हम लोगों की बिलकुल पर्वा न करके मौत को जबर्दस्ती बुला रहे हैं। अन्त को चर्खा आया और महात्माजी कातने बैठे। कात रहे थे कि डाक्टर शहर से देखने आये। देखकर बोले—'ये तो भलेचंगे हैं, इन्हें क्या देखूँ ?' महात्माजी ने हँसकर कहा—'मेरी नहीं, शंकरलाल की दवा करो।'

एक मित्र, जो दूर खड़े अनिमेष नेत्रों से महात्माजी को पी रहे थे, मुस्कराकर बोले—'भाऊजी, आज तो भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों की फ़िल्में मेरी आँखों के सामने दौड़ रही थीं—बुढ़ऊ, इसी तरह एकाएक चल बसने वाले हैं।'

लड़कों के नाटक का जो दृश्य खुला तो एक पात्र कह रहा था—'देखो अभी दो घड़ी के बाद मेरी मृत्यु आने वाली है, इसलिए धर्म के बारे में जो कुछ पूछना हो, पूछ लो'; मेरे दिल में एक हलका-सा भय दौड़ गया—'ईश्वर यह कैसी भविष्य-वाणी ?'—'अतिस्नेह: पाप शंकी'

यह चित्र मेरी आँखों से हटाये नहीं हटता। अब वह एक सपना-सा मालूम होता है—पर उस दृश्य में कितनी पवित्रता थी, कितना जीवन था ! उस मूर्च्छा में और उससे उत्पन्न उद्विग्नता में कितनी पवित्रता थी ! मृत्यु-वत् मूर्च्छा; ज़रा चेतना आते ही खेल शुरू करने की आज्ञा, किंचित् थकावट दूर होते ही चर्खा कातने बैठना—इन बातों के इतिहास में महात्माजी के सारे जीवन का रहस्य और माहात्म्य आ जाता है। जब-जब उस भव्य और दिव्य दृश्य का स्मरण हो आता है तब-तब हृदय के अन्तस्थल से यह आवाज़ उठती है—धन्य है हमारी यह गुलामी ! अमर रहे हमारी यह विपत्ति ! इन्हींकी बदौलत ऐसे पुरुष हमें नसीब होते हैं। यदि ईश्वर कहे कि 'लो मैं तुम्हें आज़ाद कर देता हूँ, तुम्हारे सब दुःखों और कष्टों को दूर किये देता हूँ, पर

इसके बदले में महात्माजी-जैसों का जन्म लेना बन्द कर देना चाहता हूँ, तो मैं कहूँगा—'मैं गुलामी से जरूर ऊब गया हूँ, आजादी का जरूर भूखा हूँ, देश की दुर्दशा मुझे बिच्छू की तरह डस रही है, उसके लिए मुझसे बड़ी क़ीमत ले लीजिए—महात्माजी-जैसे तक की आहुति लेना हो तो ले लीजिए, पर उनका आना मत रोकिए।' यदि गुलामी, आपत्ति की यातना में ही ऐसों का जन्म होता हो, तो मैं आगे बढ़कर उस गुलामी और विपत्ति के चरण चूमूँगा। वह स्वराज्य बेकार है, जिसमें पवित्र विभूति न हो—उसके लिए स्थान न हो; वह पराधीनता, वह नरक, स्वर्ग और अपवर्ग से भी बढ़कर है, जिसमें पवित्र विभूतियों का दर्शन होता हो।

बुद्धि के उदय के युग की याद दिलाने वाले हमारे मित्र इसे भोली भावुकता कहकर इसपर हँस पड़ेंगे। मुझे इनकी शिकायत नहीं। मैं कह चुका हूँ, दीवानों का रास्ता जुदा है—समझदारों का रास्ता जुदा है। समझदारी: ठंडापन, खुदगर्ज़ी, गौरव और ज़िल्लत से मुझे दीवानों का आत्मार्पण, ऊँचा उठना, उड़ना और कूद पड़ना अधिक गौरवपूर्ण मालूम होता है। बुद्धि की तीव्रता की अपेक्षा हृदय की शुद्धता मनुष्यत्व के अधिक नजदीक है। बुद्धि की तीक्ष्णता में हृदय को ऊँचा उठाने का उतना सामर्थ्य नहीं है, जितना हृदय की निर्मलता में बुद्धि के तीक्ष्ण बनाने का है। हृदय की मलिनता ज्यों-ज्यों कम होती जाती है त्यों-त्यों बुद्धि की तीव्रता और साथ ही निर्णय की शुद्धता अपने-आप बढ़ती जाती है। पवित्रता की चाह और स्वाधीनता की चाह एक ही वस्तु है। कोरी स्वाधीनता चाहने वाला दूसरे व्यक्तियों के अँकुश से अपने को छुड़ाना चाहता है; पर पवित्रता का इच्छुक तो अपनी भी बुराइयों और दोषों से अपने को मुक्त कर लेना चाहता है। अतएव यह बढ़कर और ऊँचे दर्जे का स्वाधीनता-

प्रेमी है।

मेरे दूसरे भाई कहेंगे—यह बीसवीं सदी में तुम व्यक्ति-माहात्म्य का क्या गीत गाने लगे ? दुनिया कहाँ जा रही है, तुम कहाँ जा रहे हो ?

हाँ, बात कुछ है उलटी। उस पवित्र दृश्य को पाठकों के सामने उपस्थित करने की आज़ादी मैंने इसलिए नहीं ली कि पाठक महात्माजी को ईश्वर समझ लें, उनकी मूर्ति बनाकर उसका ध्यान और उनके नाम का जप करें—हालाँकि हिन्दू-जीवन की वस्तुस्थिति में तो इसे भी एक हद तक स्थान है। मेरा कहना यही है कि दुनिया व्यक्तियों की बनी हुई है, व्यक्तियों के लिए है और सिद्धान्तों, आदर्शों की कल्पना हम व्यक्तियों के ही द्वारा कर सकते हैं। व्यक्ति क्या है ? एक जीता-जागता आदर्श और सिद्धान्त ही तो है ? लोग क्यों राम, कृष्ण, ईसा, बुद्ध, महावीर, रामदास, मुहम्मद, गोविन्दसिंह, मार्क्स, लेनिन को याद करते हैं ? क्यों गांधी को याद करना चाहते हैं ? यदि ये कुछ सिद्धान्तों के प्रतिपालक, कुछ आदर्शों के प्रवर्त्तक न होते, तो इनकी हड्डी-पसलियों में क्या रखा था ? लोग उनके शरीर को नहीं मानते हैं, उनके गुणों और कार्य को पूजते हैं; और शरीर इन बातों का साधन होता है, इसलिए जबतक वह है तबतक उसकी महिमा और प्रतिष्ठा को मिटा देने का सामर्थ्य किसीमें नहीं। फिर मैंने तो उस पवित्र प्रसंग का वर्णन इसलिए किया है कि हम—महात्माजी को किसी भी अंश और किसी भी अर्थ में अपने से श्रेष्ठ समझने वाले—उनके सम्बन्ध में सावधान हो जायँ। जो उनसे विशेष अनुराग रखते हैं, जिन्हें उनका जीवनादर्श प्रिय है, जो अपने को उनका अनुयायी मानते हैं, वे अपने कर्तव्य का विशेष रूप से विचार और निश्चय कर लें। अबतक न समझा हो तो अब शीघ्र समझ लें कि

महात्माजी क्या चाहते हैं और क्या कर रहे हैं। देश के नवयुवक और विद्यार्थी कम-से-कम उनके जीवन से तो वाक़िफ़ हो लें। यह कितने आश्चर्य और दुःख की बात है कि जर्मनी, आस्ट्रिया और फ्राँस के विद्वान् महात्माजी पर बढ़िया विवेचनात्मक पुस्तकें लिखें और भारतवर्ष के स्कूल-कालेजों में पढ़ने वाले हज़ारों विद्यार्थी उनके मर्म तक को समझने की फ़ुरसत न पावें! अस्तु।

जिन्हें पहचानने की बुद्धि और भविष्य को देखने वाली आँखें हैं वे तो आज भी देख सकते हैं कि महात्माजी भारत के ही मन, वचन, कर्म में नहीं बल्कि दुनिया के भी इतिहास में क्या उलट-फेर कर रहे हैं; फिर भी अधिकांश लोग तो उन बातों को स्पष्ट-रूप से तभी समझ पावेंगे, जब आज का भविष्य अपने को वर्तमान के रूप में सामने लावेगा। यह बात मानकर चलने में कोई बुराई नहीं है कि महात्माजी का शरीर अधिक दिनों तक उनकी आत्मा का साथ न दे सकेगा। यह हम इसलिए न मानें कि हम उनके जीवन से निराश हो चुके हैं, बल्कि इसलिए मानें कि मृत्यु प्रकृति का एक नियम है और जागरूक मनुष्य को सदा उसके लिए तैयार रहना चाहिए और न हम मृत्यु की बातों और चर्चा को अमंगल या भयजनक ही समझें। मृत्यु शरीर की एक मीठी चिरनिद्रा है। मृत्यु जीवन के विकास की एक अवस्था है। शरीर का विकास मर्यादित है; वह प्रकृति के—पंचमहाभूतों के—नियमों से बँधा हुआ है। आत्मा का विकास अमर्याद है और प्रकृति की पहुँच के परे होना ही उसका अन्तिम लक्ष्य है। किसीकी आत्मा का विकास जब एक शरीर के विकास की मर्यादा के बाहर जाने लगता है तब शरीर का छूट जाना अनिवार्य हो जाता है। विकासशील आत्माओं के जीवन में शरीर की जीर्णता और अन्तःस्थिति को हम विशेष रूप से देख सकते हैं। अतएव शरीर का नाश दुःख, भय, या निराशा का कारण

न होना चाहिए। महात्माजी के सम्बन्ध में भी शरीर-मोह से हमें किसी प्रकार प्रभावित न होना चाहिए। बल्कि मैं तो देखता हूँ कि वह तो अमरता की गोद में दिन-दिन आगे बढ़ रहे हैं। हाँ, जबतक उनका शरीर अपने स्वाभाविक क्रम से छूटने की स्थिति को नहीं पहुँचा था तबतक उसकी रक्षा और पोषण की चिन्ता उन्हें और हमें सब को होनी चाहिए; पर उनके शरीर की वर्तमान जीर्ण-शीर्णता को ध्यान में लाकर हमें अपने-अपने कर्तव्यों में अधिक सावधान और जागरूक अवश्य हो जाना चाहिए।

खुद महात्माजी ने तो अपनी ओर से यह कह दिया है कि मेरे शरीर का ख़याल छोड़ दो—असली बात तो स्वराज्य है; (अब उनके निधन के बाद 'स्वराज्य' की जगह 'रामराज्य' मान लें।) उसकी प्राप्ति में जुट पड़ो और उसके लिए आकाश-पाताल एक कर दो। स्वराज्य का अचूक साधन-मध्यबिन्दु है खादी और चर्खा। अतएव स्वराज्य-प्राप्ति के लिए हमें कम-से-कम इतना अवश्य करना चाहिए—

(१) केवल स्वदेशी वस्त्र ही पहनें और बरतें। उसमें भी जितनी अधिक खादी इस्तेमाल कर सकें नियम-पूर्वक करें—कम-से-कम हर भारतवासी एक कुरता और टोपी खादी की अवश्य पहने और बहनें खादी की साड़ी या फ़िलहाल कंचुकी ही पहनने का व्रत धारण कर लें।

(२) रोज़ नियम-पूर्वक चर्खा या तकली पर सूत कातें। जिन्हें महात्माजी का जीवनादर्श प्रिय है उन्हें इतनी बातों पर ख़ास तौर पर ध्यान देना चाहिए—

(अ) मन, वचन और कार्य में अधिकाधिक सत्य का अवलम्बन करें।

(ब) मनुष्य-मात्र के प्रति प्रेम का व्यवहार करने का

यत्न करें।

(स) जीवन के हर अंग में संयम को प्रधानता दें; क्या स्त्री-पुरुषों के पारस्परिक सम्बन्ध में, क्या भोजन-पान और रहन-सहन में, क्या सुख और भोग की सामग्री में—सब जगह संयम से काम लेने की आदत डालें।

(द) अछूतों से छुआछूत मानना छोड़ दें।

(क) हिन्दुओं और मुसलमानों के वैमनस्य को घटाने में अपनी शक्ति लगावें। कम-से-कम अपनी ओर से उसे बढ़ने न दें।

(ख) नियमनिष्ठ और निर्भय बनने का यत्न करें।

(ग) मरे हुए पशु की ही खाल का चमड़ा इस्तेमाल करें; कटे पशु का नहीं।

(घ) जिन लोगों ने कुछ-न-कुछ काम अपनी तरफ़ ले रखा है वे इस उत्साह, भाव और लगन से उसमें जुट पड़ें, मानो महात्माजी को हम अब भी दिखा दें कि आपके न रहने पर हम अपने कामों को और भी जिम्मेवारी और दृढ़ता के साथ करते रहते हैं।

यदि हम इतना कर सके तो महात्माजी, मर जाने पर भी, सर्वदा हमें अमरता की गोद में दिखाई देंगे और यदि हम कोरे शब्दों से उनकी पूजा करते रहे तो वह हमारे सामने अमर होकर भी अपने को मरे से बदतर समझेंगे। और मैं जरूर मानता हूँ कि इस पिछली अमरता से पहली मृत्यु हर तरह श्रेयस्कर है। यों तो महापुरुषों का जीवन जैसे चैतन्य का स्रोत और प्रकाश की शिखा होता है, वैसे ही मृत्यु एक स्फूर्ति की बैटरी होती है। जीवित अवस्था में उसकी आत्मा शरीर के क़ैद-खाने में बन्द रहकर अपना काम करती है; पर मृत्यु के पश्चात् वह स्वतंत्र और स्वाधीन होकर फैलती और अपना काम करती

है। अतएव, आइए, हम तो चिन्ता और आशंका की घटाओं को चीरकर अपने काम में आगे बढ़ते चले जावें और इसी बात पर परमात्मा का उपकार मानें कि हम महात्माजी-जैसी विभूति के समय में उसीके देश में उत्पन्न हुए, रहे, उसके दर्शन किये, उसके लेख पढ़े, उपदेश सुने और स्वराज्य की सेना में—एक छोटे और मामूली क्यों न हों—उसके सिपाही बनने का गौरव प्राप्त किया। और महात्माजी के पुरुषार्थी जीवन को देखकर उनकी-सी विभूति बनने का हौसला रखें। महात्माजी का जीवन क्या है ? आशा, अमरता और आत्मा का संदेश है; जीवन, जागृति, बल और बलिदान का नमूना है। अमरता की गोद ऐसे ही जीवन के लिए सिरजी और खुली है। ओ मनुष्य, तू मृत्यु की भयानकता से न सिहर—उसके अन्दर अमरता की ज्योति जगमगा रही है। तू गा—

"अब हम अमर भये न मरेंगे।
या कारण मिथ्यात दियो तज, क्योंकर देह धरेंगे ?
राग-द्वेष जग-बन्ध करत हैं, इनको नाश करेंगे।
मरयो अनन्तकाल ते प्रानी, सो हम काल हरेंगे॥
देह विनाशी हूँ अविनाशी, अपनी गति पकरेंगे।
नासी-नासी हम थिरवासी, चोखे ह्वै निखरेंगे॥

अप्रैल, १६२८

: ५ :

तूफ़ान में महात्माजी

पिछले नवंबर की बात है। देशबन्धु दास का 'फारवर्ड' कलकत्ते से निकला था। उसकी शायद पहली संख्या में कवि-वर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की Freedom नामक कविता प्रकाशित हुई थी। कहते हैं रवि बाबू और देशबन्धु साहित्य और धर्म-क्षेत्र में कुछ समय तक प्रति-स्पर्द्धी रहे हैं। कविता का भाव, 'फारवर्ड' का उपदेश दोनों प्रतिस्पर्द्धियों का विस्मयजनक सम्मेलन विचारों को उद्दीप्त करने के लिए काफी थे। देहली के समझौते के कारण स्वराज्यदल की हालत नवविवाहित दुलहिन की सी थी। शुद्धि और संगठन तथा तबलीग वाले अलग जोर मार रहे थे। ऐसी परिस्थिति में एक मित्र ने 'फारवर्ड' में प्रकाशित 'फ्रीडम' की ओर ध्यान आकर्षित किया। मैंने पढ़कर मित्रों से कहा—"मालूम होता है जब महात्माजी जेल से छूट कर आवेंगे तब उन्हें देश में अनेक विरोधी शक्तियों का सामना करना पड़ेगा। क्या राजनीति, क्या धर्म, क्या संस्कृति, तीनों क्षेत्रों में वे अपना विरोध पावेंगे। राजनैतिक क्षेत्र में स्वराज्य दल का विरोध स्पष्ट है। धार्मिक क्षेत्र में शुद्धि-संगठन और तब-लीग उनके कार्य को, हिन्दू-मुस्लिम एकता को मटियामेट कर रहे हैं। सांस्कृतिक क्षेत्र में रवि बाबू कभी-कभी अपनी निषेधक आवाज उठाते रहते हैं। तीनों क्षेत्रों के लोग अपनी-अपनी समझ के अनुसार यह मानते हैं कि महात्माजी के अमुक कार्यों या

विचारों से देश को हानि है। जबतक वे ऐसा मानते हैं तबतक उनका यह कर्तव्य ही है कि वे उनका विरोध करें—प्रतिकार करें। बहुत संभव है, जब महात्माजी जेल से निकलें तब उन्हें तीनों शक्तियों का सम्मिलित विरोध दिखाई दे। आर्य-समाजी और सनातनी एक-दूसरे के विरोधी हैं। पर जबतक वे यह मानते रहेंगे कि महात्माजी ने मुसलमानों को सिर चढ़ा लिया है तबतक वे महात्माजी की प्रवृत्ति के विरोध में एक हो जायंगे और रहेंगे। कट्टर हिन्दू और कट्टर मुसलमान, हिन्दू पण्डित और मुसलमान मौलवी या उल्मा जबतक यह खास खयाल रखते रहेंगे कि महात्माजी तो दोनों धर्मों को एक बनाकर एक नया ही हिन्दू या मुसलमान धर्म चलाना चाहते हैं तबतक दोनों आपस में परस्पर विरोधी होते हुए भी एक हो जायंगे। महात्माजी और देशबन्धु का समझौता सांस्कृतिक और राजनैतिक क्षेत्र के संयुक्त विरोध का सूचक मालूम होता है। महात्माजी छूटते ही अपनी नाव को तूफ़ान में पड़ा पावेंगे। जून के दूसरे सप्ताह में एक मित्र ने आकर कहा—उपाध्यायजी मैं आपको भविष्यवादी कहूँगा। आपकी यह भविष्यवाणी सच निकली। आज महात्माजी सचमुच तूफान में हैं। हो सकता है कि इन विचारों में किसीको अनुदारता दिखाई दे। दल-दृष्टि नज़र आवे, किसीके हेतु पर इल्जाम लगाने का प्रयत्न जान पड़े; पर इन सब बातों से यहां मुझे कुछ वास्ता नहीं है। मेरे कहने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि आज से कई महीने पहले इस तूफान के पूर्व-चिह्न लोगों को दिखाई देते थे। तूफ़ान बीजरूप में था, महात्माजी के छूटने के समय अव्यक्त रूप से वायु-मंडल में लबालब भरा हुआ था। वह भीतर-ही-भीतर लोगों को परेशान कर रहा था। महात्माजी ने अपने भिन्न-भिन्न वक्तव्यों और लेखों के द्वारा उसका स्फोट करके वायु-मंडल को

साफ़ करने का प्रयत्न शुरू किया है। बुख़ार के जन्तु जबतक अन्दर दबे रहते हैं तबतक आमतौर पर लोगों को बुख़ार का अस्तित्व नहीं दिखाई देता और जब बुख़ार आ जाता है तब वे समझते हैं हम बीमार हुए। वास्तव में देखा जाय तो बुख़ार का ऊपर आ जाना नजदीकी आरोग्य का चिह्न है। जबतक वह भीतर दबा रहता है तबतक वह अधिक भयंकर होता है। इस तूफ़ान का भी यह हाल है। जब बुख़ार १०३—०४ डिग्री हो जाता है तब रोगी गाफिल होने लगता है और घर के लोग घबड़ा जाते हैं। पर वैद्य बेखटके दवाओं का प्रयोग करता जाता है। यही हाल महात्माजी का हम देख रहे हैं। आर्य समाजियों के और स्वराजियों के तरह-तरह के विरोध, आरोप और कटाक्षों की रिपोर्ट लोग उनके पास ले जाते हैं और वे "अं:, इसमें कुछ नहीं, मैंने जो कुछ लिखा है बहुत सोच समझकर और प्रमाण-पूर्वक लिखा है, कोलाहल की चिन्ता नहीं। यह तो जल्द ही शान्त हो जायगा।" सारे देश के अख़बार और सभा-समाज चिल्ल-पों मचा रहे हैं। और उनके हिसाब से मानो कुछ है ही नहीं। उन्हें इस धूं आधार में भविष्य की उज्वल किरणें आती हुई दिखाई देती हैं। वे शान्त और स्थिर-भाव से अपनी नैया को गन्तव्य दिशा की ओर खेते जा रहे हैं। यह तूफ़ान इस बात को साफ़-साफ़ दिखला देगा कि कौन कहाँ और कितने पानी में है। इसमें असली और नकली, कच्चे और पक्के, अनुकूल और प्रतिकूल का पता लग जायगा। जबतक कोई नेता इन बातों को साफ़-साफ़ न जान ले तबतक उसके लिए कुछ भी काम करना असंभव है। चासनी में उफान मैल को दूर करने के लिए उठाया जाता है। भारतीय गगन-मण्डल इन दिनों इतना मेघाच्छन्न हो गया है कि कार्येच्छु लोगों का जीवन मन्द होता जाता है। यह आवश्यक था कि या तो जलद-पटल बिखर जायं या बरस कर

आकाश-मण्डल को निर्मल कर दें। महात्माजी के आ जाने से अब हमें थोड़े ही दिनों में भुवन-भास्कर की चेतनामय किरणों के दिव्य दर्शन की आशा करनी चाहिए।

सन्, १६२२

: ६ :

महात्माजी के दर्शन

बारडोली में

बिजोलिया के बारे में पू० महात्माजी का तार पाते ही मैं बारडोली रवाना हो गया। कोई ६ वर्षों में लगान-सत्याग्रह और स्वराज्य-संग्राम इन दो युगान्तरों के बाद, मैंने बारडोली में प्रवेश किया। रिपवान विंकल की सी कुछ हालत मेरी हुई। स्वराज्य-आश्रम अब भी खासी 'सैनिक छावनी' दिखाई दिया। इस समय महात्माजी पर दिल्ली की सन्धि-शर्तों के पालन कराने की बड़ी जिम्मेवारी आ पड़ी है। अनेक कामों से उन्हें दम लेने की फुरसत नहीं मिलती। ऐसी दशा में बिजोलिया का बोझ भी उन पर रखते हुए मुझे बड़ा संकोच हो रहा था। स्वराज्य-आश्रम में पहुँचते ही मैं उनके चरणों तक पहुँच गया। उनके विश्व-विमोहक हास्य और अमिय दृष्टि ने जोकि प्रत्येक छोटे-बड़े आगन्तुक के स्वागत के लिये सदा मुक्त रहते, मेरी झिझक और चिन्ता दूर सी कर दी। दूसरे तमाम आवश्यक कामों को छोड़कर उन्होंने दो बार करके कोई दो घण्टे तक मेरी सारी बातें बड़े ध्यान से सुनीं। महात्माजी का यह स्वभाव है कि चाहे कितने ही जरूरी और भारी कामों के बोझ से पिस रहे हों पर उन्हें यदि किसी तरह यह मालूम हो जाय कि दूसरे को कुछ दुःख है, कोई कठिनाई है और वह उनकी सहायता चाहता है तो फिर उनसे

उसकी सहायता किये विना नहीं रहा जाता। यह उनकी महानता है। परन्तु मैं देखता हूँ कि हम लोग उनकी इस प्रकृति का इतना अधिक फ़ायदा उठाते हैं कि छोटी-छोटी-सी वातों में भी लम्बी-लम्बी चिट्ठियां लिख-लिखकर और उनतक दौड़-दौड़कर उन्हें वहुत तंग करते हैं। इससे एक तो हमारा स्वावलंवन, पुरुषार्थ और आत्म-विश्वास नहीं वढ़ता और दूसरे उनका वोझ अकारण वढ़ जाता है। विजोलिया के वीर दुःखी किसानों के प्रति तो उनके मृदुल और दयामय हृदय में सहानुभूति ही हो सकती थी। पिछले १२ वर्ष के संसर्ग में इतना अधिक समय मैंने उनका कभी नहीं लिया था!

'साहेब हवे तो भूल थई गई'

अपनी वातचीत के वीच में मैंने एक वड़ा ही पवित्र दृश्य देखा, जिससे सत्य और अहिंसा का चमत्कार प्रत्यक्ष होता था। वारडोली के किसानों की कुछ ज़ब्तशुदा जमीन के एक खरीदार आये। हाथ जोड़कर कहने लगे—'साहेब, हवे तो भूल थई गई। मारे आ जमीन न लेवी जोईती हत्ती, पर हवे तो भूल थई—हुं वगर किमते फ़री आपवा तैयार छुं। हवे मने माफ़ी मलवी जोइए।' जव यह शब्द उनके मुंह से निकल रहे थे तो ऐसा मालूम होता था, मानो उनके दिल पर से कोई पत्थर हट रहा हो। महात्माजी ने वड़े प्रेम से उनकी वात सुनकर गुजरात के प्रसिद्ध 'प्याज-चोर' श्री पंड्या से कहा—देखो, इनके साथ गांव के लोग अव किसी तरह का दुर्व्यवहार न करें। विजोलिया के वारे में भी उन्हें इस वात की वड़ी चिन्ता रही कि सत्याग्रही किसान 'वापीदारों' पर ज्यादती न करें। मैंने उन्हें किसानों की तरफ से शान्ति और धीरज का आश्वासन दिया। अहिंसा का स्वाद और गुण ही यह है कि वह मनुष्य का हृदय वदल देती

से उसकी माफ़ी मांगने वाली मनुष्यता और सहृदयता। डंडा अंग्रेज़ जाति को तबाह कर देगा—फादर एल्विन की सच्चाई, सरलता और मानवता अंग्रेज़ों को ऊंचा उठावेगी और दूसरी जातियों में घृणा की जगह प्रेम का स्थान दिलावेगी। चुनाव अंग्रेज़ों के हाथ में हैं। परमात्मा उन्हें सही चुनाव करने की प्रेरणा करे।

२६ जून, १६३१

: ७ :

आश्रम का प्रसाद

अभी हाल ही कलकत्ते से लौटकर "हिन्दी नवजीवन" के सिलसिले में मुझे साबरमती आश्रम में जाने का लाभ मिला था। बछड़ा जिस प्रकार अपनी माता के पास जाने के लिए दौड़ता है वैसा ही मेरा हृदय आश्रम के लिए दौड़ता रहता है। जब-जब अपनी दुर्बलताएँ यहाँ की झंझटों से घबरा देती हैं तब-तब आश्रम की ओर मन दौड़ने लगता है और कहने लगता है कि वहाँ के शान्त और पवित्र वायुमण्डल को छोड़कर यहाँ कहाँ उलझनों में आ फँसा? परन्तु ऐसे समय "अंगीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति" यह उत्साह-वचन मेरी सहायता के लिए दौड़ पड़ता है। ऐसी अवस्था में जब-जब आश्रम जाने का थोड़ा भी अवसर हाथ लगता है तो मैं माता के स्तन की ओर झपट पड़ने वाले भूखे बालक की तरह झपट पड़ता हूँ। कुछ महीनों से सत्याग्रहाश्रम का नाम 'उद्योग मन्दिर' रख दिया गया है। इसका कारण यह है कि ज्यों-ज्यों महात्माजी और आश्रमवासी आश्रम के व्रतों की सूक्ष्मता का विचार करते गये, त्यों-त्यों उन्हें यह मालूम होता गया कि सूक्ष्म अर्थ में सब व्रतों का सोलहों आना पालन अनेक आश्रमवासियों से नहीं हो रहा है। अतएव उन्होंने 'सत्याग्रहाश्रम' नाम अपने लिये अपनी वर्तमान अवस्था से बहुत ऊँचा समझा और 'उद्योग मन्दिर' नाम उचित देखा। सुबह ४ बजे से रात के ९ बजे तक १७ घण्टे रोज अपने काम

और उद्योग का हिसाब देने की तैयारी रखने वाले आश्रम-वासियों ने 'उद्योग मन्दिर' अपने लिए अधिक सार्थक देखा और वे महात्माजी की छत्रच्छाया में और प्रोत्साहन तथा मार्ग-प्रदर्शन में फिर "सत्याग्रहाश्रम" का नाम धारण करने के योग्य बनने का उद्योग कर रहे हैं। यह उनके सत्यानुराग और नम्रता का अचूक प्रदर्शन है और अबकी मैंने देखा कि "सत्याग्रहाश्रम" का नाम धारण करके आश्रमवासी जितने ऊँचे नहीं उठे थे उतने "उद्योग मन्दिर" नाम रखकर उठ गये। इस समय उनके जीवन में जो स्वच्छता, गंभीरता, नियम-निष्ठुरता, सुश्रृंखलता और एकरागिता दिखाई दी, वह पहले कभी न दिखाई दी थी। आश्रम में महात्माजी भी सुबह-शाम अवसर पाकर अपना हृदय आश्रमवासियों के सामने उँड़ेला करते हैं। इसमें आश्रम-वासियों को अमोल आध्यात्मिक, धार्मिक, व्यावहारिक और राजनैतिक ज्ञान और उपदेश मिला करता है। आजकल आश्रम में महात्माजी की एक ही धुन है—आश्रम सब अर्थों में स्वावलम्बी और स्वाधीन हो जाय। इसके लिए वे एक तो इस बात पर जोर देते हैं कि सब लोग स्वेच्छापूर्वक अपने बनाये नियमों और व्रतों का पालन हृदय के पूरे अनुराग और सचाई के साथ करें और दूसरे प्रबन्ध में किसी प्रकार की कोई त्रुटि न रहने पावे एवं एक-एक मिनिट काम में लगा रहे। इसके लिए वे स्वच्छता, शान्ति और छोटी-छोटी बातों पर पूरा ध्यान देने का बराबर आग्रह करते रहते हैं।

एक रोज़ किसी आश्रमवासी या अतिथि ने आश्रम के रास्ते पर थूक दिया। महात्माजी ने रास्ते पर थूक पड़ा देखा तो उस पर मिट्टी डाल दी और शाम को प्रार्थना-सभा में कहा "आश्रम में पाखाना-पेशाब का स्थान तो निश्चित ही है; परन्तु लोग कभी-कभी रास्ते पर थूक देते हैं, या नाक साफ़ कर लेते हैं।

यह भी ठीक नहीं। रास्ते के किनारे जहाँ लोगों के पैर या नजर न पड़ें ऐसी जगह थूकना या नाक साफ करना चाहिए। रास्ते पर यदि कहीं हमें ऐसी गन्दगी दिखाई दे तो हमारा काम है कि उसपर मिट्टी डालकर और उठाकर उसे ऐसी जगह फेंक दें जहाँ सहसा किसीका पैर न पड़ता हो। आज मेरा कर्त्तव्य यही था कि मैं भी उस गन्दगी को वहाँ से उठाकर फेंक देता, पर एक तो मैं राह चल रहा था, दूसरे हाथ धोने के लिए पानी पास नहीं था। इसलिए मिट्टी डालकर ही खामोश हो रहा। फिर भी मैं मानता हूँ कि अपने कर्तव्य-पालन में मैंने त्रुटि कर दी। हमारा तो काम है कि लोग जहाँ-जहाँ बिगाड़ करें हम वहाँ-वहाँ सुधार करें। लोग बिगाड़ते चले जायँ और हम सुधारते चले जायँ। तब जाकर इस देश का उद्धार होगा।"

आश्रम में आजकल एक-दो अपवादों को छोड़कर सब आश्रमवासी स्त्री-पुरुष संयुक्त-भोजनालय में भोजन करते हैं। छोटे-बड़े १७५ के लगभग लोग एक साथ बैठकर भोजन करते हैं। महात्माजी भी सबके साथ ही खाना खाते हैं। इस समय भी वे अपना समय एक मिनिट नहीं जाने देते। या तो चिट्ठियाँ पढ़ते हैं, या किसीको बातचीत का समय दे देते हैं। एक रोज तो मैंने उन्हें एक लेख या चिट्ठी लिखते हुए भी वहाँ देखा था। एक दिन गुजरात कालेज के हड़ताली विद्यार्थियों के नेता इसी समय उनसे परामर्श कर रहे थे। भोजनालयों में बर्त्तनों का तथा लोगों की बातचीत का शोर होना स्वाभाविक है। परन्तु महात्माजी की यह कोशिश है कि वहाँ भी इतनी शान्ति रहे कि लोग लिख सकें और खानगी बातें कर सकें। एक रोज अतिथि लोग जोर-जोर से बातें कर रहे थे। महात्माजी ने प्रार्थना के समय इसका जिक्र किया और सुझाया कि कृपया शान्ति रहिए। इस आशय की छोटी-छोटी कई तख्तियाँ भोजनालय में जुदी-

जुदी भाषाओं में लिखकर लगा दी जायँ। जबतक भोजन के समय इतनी शांति न रहेगी कि दूसरे आदमी के किसी काम में ज़रा भी ख़लल न पहुँचे तबतक हमारा प्रबन्ध अपूर्ण ही समझना चाहिए। छोटी-छोटी बातों का इतना ध्यान महात्माजी रखते हैं कि बड़ा आश्चर्य होता है और उनके सामने खूब शर्मिन्दा होना पड़ता है। एक-दो दिन अभ्यास न रहने के कारण कुछ अतिथि सुबह चार बजे की प्रार्थना में सम्मिलित न हो पाये। तुरन्त उन्हें मीठा उलहना पहुँच गया। कुछ छोटी लड़कियाँ अधिक शाक लेकर डरती आँख से महात्माजी की ओर देखती हुई ज़बर्दस्ती शाक खा रही थीं। झट महात्माजी की नज़र उधर दौड़ गई और परोसने वालों को प्रेम का उलहना सुनना पड़ा। मेरे साथ में कुछ अतिथि बिना पहले से सूचना दिये आश्रम पहुँच गये। महात्माजी ने पहला प्रश्न यही किया कि व्यवस्थापक को आने की और भोजन की सूचना दी या नहीं? एक अतिथि बातचीत का समय माँगकर जरा पिछड़कर पहुँचे। झट उन्हें शर्मिन्दा किया गया। 'मेरी आँखें तो आपको समय पर इधर-उधर खोज रही थीं।' इसी तरह छोटी-छोटी बातों पर पूरा ध्यान रखने की आवश्यकता बताते हुए एक सज्जन से उन्होंने कहा—हमें हर एक बात की तफ़सील में उतरकर उसे देखना चाहिए। ऊपर-ऊपर देखकर किसी चीज को न छोड़ देना चाहिए। छोटी बात समझकर उसकी उपेक्षा न करनी चाहिए। किताबें अपनी जगह रखी हुई हैं या नहीं, एक जगह की चीज़ दूसरी जगह तो किसीने नहीं रख दी, बताया काम दूसरे ने ठीक उसी तरह किया है या नहीं, इन बातों में कार्यकर्त्ता को बड़ी सावधानी और जागरूकता रखनी चाहिए। जो छोटे कामों की उपेक्षा करता है उसके बड़े कार्यों को भी यह त्रुटि बिगाड़ देती है।

आश्रम में एक घण्टे में कम-से-कम १६० तार सूत कात लेने

का नियम रक्खा गया है। एक दिन महात्माजी ने सूत कातकर सदा की तरह गिनने वाले के भरोसे छोड़ दिया। उस दिन १६० में कुछ तार कम थे। गिनने वाला इसकी सूचना महात्माजी को समय पर देना भूल गया—प्रार्थना में जब महात्माजी का नाम पुकारा गया और १६० में तार कम होने की बात उन्हें मालूम हुई तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ। मेरे नाम पर और आज तार कम लिखे जायँ। यह मेरे लिए कितनी शर्म की बात है। यह मेरा प्रमाद है। गिनने वाले का दोष नहीं। मुझे अपना काम खुद करना चाहिए था। मैंने उसके भरोसे क्यों छोड़ा और दूसरे दिन से खुद तार गिनने लगे।

: ८ :

महात्माजी का चमत्कार

ऐसा प्रतीत होने लगा है कि राजस्थान के राष्ट्रीय जीवन की आन्तरिक बुराइयों और बाधाओं का अन्त होने लगा है और उसके सौभाग्य का उदय स्पष्ट दिखाई दे रहा है। कुछ दिन पहले डा० सैयद महमूद यहाँ आये थे और भिन्न-भिन्न विचार रखने वाले अजमेर के राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं से उन्होंने कांग्रेस-संगठन को मजबूत बनाने के विषय में बातचीत की थी। उन्हें कार्यकर्ताओं की इस स्पिरिट पर बड़ा आनन्द हुआ कि यहाँ दोनों तरफ के लोग यह कहते हैं कि 'ओहदा हमें नहीं चाहिये, आप ले लीजिये' जहाँ कि और प्रान्तों में पदों पर कब्जा करने की होड़ लगती है। यहाँ के राष्ट्रीय सेवकों के लिए यह कम श्रेय और गौरव की बात नहीं थी। किन्तु यह सद्भावना यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती है। डा० साहब के चले जाने के बाद कुछ प्रधान कार्यकर्ता इस बात पर परामर्श करने के लिये एकत्र हुए कि हमें आपस के मतभेद को भुलाकर प्रांत में संगठित बल उत्पन्न करना चाहिये। एक ने यह योजना पेश की कि कोरी योजना बना लेने से काम नहीं चलने का, जबतक कि हम एकत्रित होकर उसको अमल में लाने का यत्न न करें। इसके लिये यह जरूरी है कि हम या तो गई-गुजरी बातों को भुलाकर कोरे कागज पर नये सिरे से लिखना शुरू करें, या गड़े मुर्दों को उखाड़ें और उनका फैसला करें। मुझे यह लिखते हुए बड़ा

ही आनन्द होता है कि सब ने तुरन्त एक स्वर में इसी बात को मान लिया कि गई-गुजरी बातों को दफना दो और आगे चलो। यह इस उत्सुकता की सूचना है कि हमें बहस और झगड़ों से मतलब नहीं, हम तो मिलकर काम करना चाहते हैं। एक थकी हुई फौज में पुराने घावों को भूलकर नई रचना करने का उत्साह सचमुच ही उसके जीवन और उज्ज्वल भविष्य का लक्षण है।

इसके बाद ही जगत् की परम-पुण्य विभूति महात्मा गांधी का आगमन अजमेर में हुआ। राजस्थान के पुराने नेता पं० अर्जुनदासजी सेठी अर्से से राजनीतिक मत-भेदों के कारण एकान्त सेवन कर रहे थे। भला हो उन मित्र का कि जिन्होंने महात्माजी को प्रेरित किया कि वे सेठीजी के घर जावें जिससे उन्हें (सेठीजी को) प्रतीत हो जाय कि महात्माजी के दिल में उनके लिये पूर्ववत ही प्रेम है। महात्माजी का हृदय तो स्वच्छ-निर्मल प्रेम का अखण्ड स्रोत ही ठहरा।

उनके सेठीजी के घर पदार्पण करते ही सेठीजी और उनकी धर्मपत्नी अपने-आप को भूल गये—गद्गद् हो गये। प्रेम की विह्वलता में उन्हें यह सूझ नहीं पड़ता था कि क्या बोलें और क्या करें। बड़ा ही हृदयस्पर्शी दृश्य था। एक ने कहा—'आज से कांग्रेस अजमेर में मजबूत हो गई; अब कोई उसकी तरफ आँख उठाकर नहीं देख सकता।' दूसरे ने कहा—'आज से हमारा मतभेद खतम हो गया, अब हम कांग्रेस के लिए अपनी जान दे देंगे।' सेठीजी ने कहा—'मुझे कुछ नहीं कहना है। आप इन बच्चों के सिर पर हाथ रख दीजिये, जिससे ये देश के सच्चे सेवक बनें।'

सेठी जी के हिन्दू-मुसलमान सभी मित्र और साथी मौजूद थे। उस समय की निर्मलता और उसका आनन्द अनुभव

करने की ही वस्तु है। महात्माजी के इस कार्य ने सेठीजी और उनके मित्रों को जैसा सुखी, सन्तुष्ट और आनन्दित किया, वैसा न सैकड़ों दलीलों से किया जा सकता था, न हज़ारों रुपए खर्च करने से। निर्मल हृदय की एक बूंद जो चमत्कार कर सकती है वह दूसरी कोई शक्ति नहीं कर सकती।

१७ जुलाई, १९३४

: ९ :

सतयुग की झलक

हिन्दू लोग आम तौर पर यह मानते हैं कि यह कलियुग है; अभी घोर कलिकाल आनेवाला है और फिर सतयुग आने में लाखों वर्षों की देर है। किन्तु न जाने क्यों, जब-जब गांधीजी के संपर्क में आते हैं, ऐसा प्रतीत होने लगता है, मानो सतयुग की शुरूआत हो गई हो। हाल ही गांधीजी अजमेर पधारे थे। काशी के स्वामी लालनाथजी की पार्टी पहले से ही आ पहुँची थी। ऐसी भी अफवाहें थीं कि पूना से भी कुछ लोग गांधीजी पर हमला करने की फिराक में आये हुए हैं। बड़े धड़कते हुए दिल से, प्रार्थनापूर्ण हृदय से, अजमेर ने उनका स्वागत किया। कार्यकर्त्ता ईश्वर से मना रहे थे कि बापूजी सकुशल यहाँ से विदा हो जायँ। मैंने श्री ठक्करबापा और बापूजी से यह हाल कह दिया था। यह भी खबर आई थी कि स्वामी लालनाथ ने अजमेर के दो बदमाशों को इसलिए तैनात किया है कि वे गांधीजी पर पत्थर फेंकें। यह सुनते ही बापूजी ने कहा—"स्वामी लालनाथ के द्वारा ऐसा काम नहीं हो सकता। वे मुझसे कई बार मिले हैं—मैं इस खबर पर विश्वास नहीं कर सकता।" बापू की इस सहज विश्वास-शीलता पर मैं खामोश रहा।

× × ×

खबर मिलती है कि स्वामी लालनाथ गांधीजी से मिलने आयेंगे। स्वामी लालनाथ को एक बार देख लेने की अभिलाषा

तो थी ही। इत्तफाक से स्वामी लालनाथ को गांधीजी के कमरे में ले जाने का काम मेरे हिस्से में आ गया। स्वामीजी का चेहरा मुझे उनके उग्र विरोध का सूचक ही मालूम हुआ। किन्तु जब वे गांधीजी से बातें करने लगे तो मेरा खयाल उनके बारे में बदलने लगा। गांधीजी के प्रति उनका व्यवहार बहुत आदरपूर्ण था। सहसा किसीको यह विश्वास नहीं हो सकता था कि दो विरोधी बातचीत कर रहे हैं। लालनाथजी गांधीजी से आग्रह कर रहे थे कि जब आप काशी पधारें तो हम लोगों के स्थान पर ठहरें; हमारे स्वयंसेवक आपका प्रबंध और रक्षा करेंगे। गांधीजी कहते थे—ऐसी योजना मुझे तो प्रिय ही होगी। हम दुनिया को दिखा सकेंगे कि विरुद्ध मत रखते हुए भी हम एक-दूसरे को सहन कर सकते हैं। इस संवाद में और इस सरल वृत्ति में मुझे सतयुग की झलक दिखाई दी। कहाँ वे देश, जहाँ विरोध की आवाज़ तक उठाने वाले को गोली से उड़ा दिया जाता है या देश-निकाला दे दिया जाता है और कहाँ यह दृश्य कि एक विरोधी दूसरे को अपना मेहमान बनाना चाहता है और दूसरा उसका स्वागत करता है। एक हम हैं कि अपने विरोधी से घृणा करते हैं, उसके पास आने-जानेवालों को संदेह की दृष्टि से देखते हैं, उन्हें भी विरोधी मान लेते हैं; और एक गांधीजी हैं, जो विरोधी से खुलकर बात करते हैं, अपने प्रिय मित्रों की तरह उसका स्वागत करते हैं और अपने हृदय की विशालता और निर्मलता से उसका विरोध-भाव मिटा देते हैं!! इसका एक और नमूना उसी दिन देखने को मिला।

घटना तो अजमेर की कीर्त्ति को बट्टा लगाने वाली है। बारहदरी के सभामंच पर पहुँचने के बाद गांधीजी को पता लगा कि स्वामी

लालनाथजी और उनके दल के लोगों को स्वयंसेवकों* तथा जनता ने पीट दिया। लालनाथजी उसी समय बुलाये गये। उनका सिर खून से रँगा हुआ देखकर गांधीजी को जो मर्मवेदना हुई वह उनके भाषण से अच्छी तरह मालूम हो जाती है। उन्होंने कहा—"पण्डित लालनाथ मेरे बुलाये हुए सभा में आ रहे थे। मैंने उन्हें तथा उनके साथियों को आश्वासन दिया था कि वे सभा में आकर भले ही काले झण्डों का प्रदर्शन करें, पर उनके साथ किसी प्रकार का दुर्व्यवहार न होगा। ऐसी दशा में जो मारपीट उनके साथ हुई उसका मुझे प्रायश्चित्त करना होगा। जिन्होंने लालनाथजी को और उनके साथियों को चोट पहुँचाई है उन्होंने अस्पृश्यता-निवारण के कार्य को गहरा धक्का पहुँचाया है। हिंसा से कभी धर्म की रक्षा और वृद्धि नहीं हो सकती।" फिर उन्होंने लालनाथजी से भाषण देने के लिए कहा। कुछ लोगों ने उनके भाषण में रुकावटें डालीं—'शेम शेम' की पुकार लगाई, 'नहीं सुनना चाहते' की आवाज उठाई। तब गांधीजी ने उन्हें डाँटकर कहा—"यदि आप लालनाथजी की बात सुनना नहीं चाहते तो इसका यह अर्थ है कि आप मेरी भी बात सुनना नहीं चाहते। मुझे यदि कहने का अधिकार है कि अस्पृश्यता हिन्दू धर्म का कलंक और पाप है तो लालनाथजी को भी अपने मत को सुनाने का अधिकार है। यदि आप मेरी बात सुनते हैं तो आपको लालनाथजी की भी बात सुननी होगी। ऐसा न करना असहिष्णुता है और असहिष्णुता हिंसा है।" अन्त में लोगों ने लालनाथजी का भाषण भी सुना।

---

* बाद को तलाश करने से मालूम हुआ है कि पीटने में स्थान् स्वयंसेवकों का हाथ न था और लालनाथजी के सिवा दूसरों को कोई खास चोट नहीं पहुँची थी।

अपने तीव्र विरोधी की बातें, सो भी अपने मत के विरुद्ध सुनने के लिए अपने अनुयायियों को प्रोत्साहित करना यह कलिकाल में सतयुग का प्रवेश नहीं तो क्या है? क्या हम गांधीजी के अनुयायी अपने महान् नेता की इस शिक्षा और इस आदर्श पर चलने का यत्न करेंगे?

२० जुलाई, १९२४

: १० :

श्रद्धा की मूर्ति

भाई जयनारायणजी की माँग है कि मैं 'अखण्ड-भारत' के लिए गांधीजी पर कुछ लिखूँ। मित्र लोग मुझे गांधीजी पर लिखने के लिए शायद इसी कारण कहा करते हैं कि मैं गांधीजी का एक जैसा-तैसा भक्त हूँ। यदि यही बात है तो वे 'भक्तों' की कठिनाइयों और मुसीबतों से शायद वाक़िफ़ न होंगे। भक्त अपने भगवान का गुण-गान ही तो करेगा और यही बात उस भगवान का महत्व कम कराने वाली हो सकती है।

एक समय था, जब गांधीजी पर लिखते हुए क़लम दौड़ती थी; अब वह स्तब्ध होकर देखने लगती है, उसकी आँखें जो कुछ पीती हैं, उसका हृदय जो कुछ अनुभव करता है, वह लिखने से दूषित होता हुआ सा प्रतीत होता है। डर लगता है कि कहीं यह काठ की लेखनी और यह स्याही उस निर्मल ज्योति को धुँधला न बना दे।

पहले गांधीजी का कुछ वर्णन किया जा सकता था; उनको नापने की हिम्मत की जा सकती थी, परन्तु अब वे दिन-दिन अगाध, अगम्य और अनन्त होते जा रहे हैं। वे अब व्यक्ति नहीं रहे, आत्मा की ज्योति ही बनते जा रहे हैं। अर्जुन की जो दशा अपने भगवान के विराट् रूप को देखकर हुई थी, वही गांधीजी के भक्तों की होती हो तो इसमें आश्चर्य नहीं।

यह गांधीजी के शरीर की महिमा नहीं, उनकी आत्मा का

प्रताप है। उनकी साधना और तपश्चर्या का फल है। वह जगत् से कहता है कि साधना और तपश्चर्या जीवन में क्या चमत्कार कर सकती है और किस वैभव को प्राप्त कर सकती है। गांधी को आप बुद्धि से समझने का यत्न न करें, यद्यपि बुद्धि—सात्विक-बुद्धि—उनके पास जाकर तृप्त होकर ही लौट सकती है, उन्हें श्रद्धा के बल से नापें और आत्मा की ज्योति में परखें। बुद्धि की फिर भी एक सीमा होती है, परन्तु श्रद्धा की सीमा आज तक किसी ने नहीं देखी है। बुद्धि का प्रवेश वहीं तक है जहाँ तक मनुष्य का दिमाग काम कर सकता है, परन्तु श्रद्धा तो असल में वहाँ से शुरू होती है जहाँ कि बुद्धि की सीमा आ जाती है। कई बार अनुभव होता है कि बुद्धि थक गई है, बुद्धि के सामने चारों ओर अन्धेरा-ही-अन्धेरा है, परन्तु श्रद्धा ने एक-बारगी प्रकाश फैलाकर मार्ग को मीलों तक चमका दिया है। हिमालय को हिला डालने की, गँगा को सुखा देने की, पृथ्वीतल को उलट देने की, बड़ी-बड़ी क्रान्तियाँ कर डालने की शक्ति श्रद्धा से ही मिलती है। गांधीजी की शक्ति उनकी श्रद्धा का ही दृश्य परिणाम है।

श्रद्धा सत्य की साधना से बढ़ती है और सत्य की सिद्धि में ही उसकी परिसमाप्ति होती है। यदि सत्य के प्रति श्रद्धा और सत्य की साधना गांधीजी में से निकाल ली जाय, तो गांधीजी के अन्य गुणों का कितना मूल्य रह जायगा? गांधीजी को जो भौतिक सफलताएँ मिली हैं उनसे चका-चौंध होने की बनिस्बत यदि हम सद्बुद्धि और श्रद्धा से उनके आदर्श का अनुकरण करेंगे, तो हम भी निश्चय ही परम सिद्धि को पहुँच सकते हैं। भौतिक सफलताएँ आखिर तो हमारे आन्तरिक जगत् का ही प्रतिबिम्ब है। गांधीजी की व्यावहारिक सफलताओं को हम उनकी आन्तरिक शक्तियों और गुणों की भाषा में समझें; तरकीब, जोड़-तोड़, दौड़-धूप, हल्ला-गुल्ला, धूम-धाम, इनमें गांधीजी के

गौरव को ढूँढना अपने आप को खो देना है। राजनीतिज्ञ और बुद्धिवादी अपने क्षेत्र में कितने ही महान् हों, सम्पूर्ण जीवन के प्रकाश में उनका मूल्य मर्यादित ही रहेगा। हमें पूर्ण को छोड़ अंश के पीछे शक्ति व्यय न करना चाहिए। पूर्ण को भूलकर अंश को पूर्ण समझने की गलती से अपने को बचाना चाहिए। गांधीजी के प्रत्यक्ष-जीवन का, राजनैतिक क्षेत्र से प्रायः अलग हो जाने और बुद्धिवादियों की गिनती में न आने पर भी अक्षुण्ण महत्व भारत में दिखाई देता है। वह हमें बरबस इसी परिणाम पर पहुँचाता है।

७ दिसम्बर, १९३९

: ११ :

मैंने क्या पाया ?

यों तो जब से महात्माजी के दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह की खबरें पढ़ता था तभी से मन पर यह छाप पड़ी थी कि गांधीजी कोई विलक्षण पुरुष हैं और उनकी कार्य-पद्धति भी अद्भुत है। परन्तु उनका प्रत्यक्ष दर्शन तो मुझे (१६१६ में) लखनऊ-काँग्रेस में ही हुआ। उन दिनों वे धोती, लम्बा अँगरखा व काठियावाड़ी सफेद साफा पहनते थे और नंगे पाँव रहते थे। काँग्रेस में उन्होंने कोई राजनैतिक भाषण नहीं दिया था। मुझे जहाँ तक याद है, कुली-प्रथा को मिटाने के पोलक साहब के प्रस्ताव का समर्थन गांधीजी ने किया था। उन्होंने हिन्दी में बोलना शुरू किया। 'इँग्लिश प्लीज' 'इँग्लिश प्लीज' की आवाजें आने लगीं। गांधीजी ने बड़े निश्चयात्मक स्वर में कहा—"यदि एक वर्ष में आप समझने लायक हिन्दी नहीं सीख लेंगे तो मेरा भाषण दुबारा आपको अँग्रेजी में सुनने को नहीं मिलेगा।"—उनके इस भाषण, रहन-सहन तथा व्यवहार के ढँग से ही मैंने भाँप लिया कि गांधी दिव्य युगान्तरकारी पुरुष हैं।

इन दिनों मैं लोकमान्य का अनुयायी था। बचपन से ही लोकमान्य के प्रति मन में अगाध श्रद्धा पैदा हो गई थी। 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' आदि वचनों का जबतब हवाला दिया करता था—हालाँकि तब भी मेरे दिल को यह अटपटा लगता था। क्रांतिकारी देशभक्तों के बलिदानों ने हृदय पर बड़ा असर डाला।

था—यद्यपि उनके हत्याकांड आदि प्रकारों से मन पर एक उद्वेग-सा छा जाया करता था। लेकिन ज्योंही गांधीजी के दर्शन हुए और उनके सत्याग्रह के प्रभाव की झलक चम्पारन में दिखाई दी त्योंही मेरे हृदय ने कह दिया—"यह मेरा इष्टदेव है।" लोकमान्य के प्रति इतनी श्रद्धा भक्ति होने के कारण मेरे पूज्य चाचाजी थे। वे लोकमान्य के अनन्य भक्त थे और लोकमान्य के 'केसरी' के अलावा 'काल' और 'हिन्दु पंच' नामक मराठी अखबार मंगाया करते थे। ये सब अखबार लोकमान्य के अनुयायी थे। बचपन में मैं इन्हें ही पढ़ा करता था और मेरे चचाजी इनके लेखों का मर्म मुझे समझाया करते थे। बाद में जब गांधीजी का रंग मुझपर चढ़ने लगा तब चचाजी और मेरे बीच 'गांधी बनाम तिलक' अक्सर विवाद का विषय बन जाया करता था। वे गांधीजी की साधुता को तो बहुत सराहते थे, लेकिन कहते थे कि दुनिया के मामलों में अन्त में लोकमान्य का रास्ता ही कामयाब होगा। मगर मेरी धारणा दिन-दिन इसके विपरीत दृढ़ होती गई। यहाँ तक कि १९२१ में तो मैं खुद महात्माजी के आश्रम, साबरमती में जा पहुँचा।

गांधीजी के सत्य की तेजस्विता, निर्भीकता, दुर्दमनीयता तथा अबाधगतित्व का और अहिंसा की मृदु-मधुरता, हृदयाकर्षणता, शीतल स्निग्धता, इन परस्पर विरोधी गुणों का और इनके गांधीजी के जीवन में हुए सामञ्जस्य का मेरे चित्त पर गहरा असर पड़ा। सत्य अपने सत्य की रक्षा के लिए और अहिंसा दूसरे के सत्य को सुरक्षित रखने के आश्वासन के रूप में मुझे जीवन के लिए बिल्कुल अनिवार्य नियम मालूम हुए। मुझे ऐसा लगता है कि महात्माजी की अहिंसा तो सीधे बिना प्रयास मेरे हृदय में पैठ गई। सत्य को पहले बुद्धि ने ग्रहण किया और बाद को वह हृदय तक पहुँचा।

शुरू में गांधीजी का सत्याग्रह तथा दूसरे वे नियम सब मेरी समझ में आ जाते थे, परन्तु 'खादी' नहीं आती थी। मुझे इस विषय पर लिखे उनके लेख या विचार पढ़ने की रुचि ही नहीं होती थी। खादी-संबंधी लेखों को छोड़कर सारा 'यंग-इंडिया' व 'नव-जीवन' पढ़ जाया करता था। कहता था 'खादी का क्या वाहियात झगड़ा महात्माजी ने खड़ा कर दिया है। स्वदेशी का मैं आदी था—१९०६ से ही मैंने स्वदेशी-व्रत ले रखा था। लेकिन न जाने क्यों खादी के प्रति मनमें अजीब अरुचि थी। बाद में जब 'हिन्दी नवजीवन' का काम करने लगा तो खादी-संबंधी लेख मजबूरन पढ़ने पड़े और अनुवाद भी करना पड़ा। तब तो उसका मर्म हृदय में बैठ गया और अब मैं यह मानता हूं कि संसार को महात्माजी की दो देनें हैं, एक अहिंसा दूसरी खादी। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि हिन्दुस्तान ही नहीं, एक दिन सारी दुनिया को ये दोनों सिद्धांत मानने पड़ेंगे। पारस्परिक झगड़ों के, फिर वे कुटुम्ब के हों, संस्थाओं के हों, समाज के हों, या राष्ट्रों के हों—निपटाने का अहिंसा से बढ़कर कोई सरल, स्थायी मार्ग या तरीका नहीं है और समाज की विषमता को मिटाने का, परस्पर ईर्ष्या, स्पर्धा, द्वेष और आर्थिक कलह न होने देने का, खादी से बढ़कर दूसरा साधन नहीं है। इसलिए गांधीजी अब खादी को अहिंसा का चोला या प्रतीक कहने लगे हैं। खादी से अभिप्राय यहां हाथ की बनी चीजों से या उनके सिद्धांत से है।

उनके व्यक्तिगत गुणों में उनकी दृढ़-संकल्पता, बालकों-सी, सरलता और कार्य-मग्नता का मुझपर विशेष असर पड़ा है। सब के हृदय जीत लेने का अजीब जादू गांधीजी में है। यह उनकी अहिंसा का चमत्कार है। हर बात की गहराई में जाकर, उसके सब पहलुओं की जानकारी हासिल करके तब निचोड़

निकालना या निर्णय करना भी उनका एक बड़ा गुण है, जो उनकी सत्य की साधना का फल है। उससे वे खुद भी धोखे से बचते हैं तथा दूसरों के साथ न तो अन्याय होने का डर रहता है, न गलत निर्णय का।

गांधीजी के दिमाग को मैंने एक महान् राजनीतिज्ञ और तत्त्व-चिन्तक का, हृदय को स्नेहमयी माता का, आत्मा को एक जबरदस्त सत्याग्रही या बलिष्ठ साधक का पाया है।

मुझे तो उनसे नया जीवन ही मिला है, हालांकि मुझे अपनी साधना या जीवन की गति-विधि से बिलकुल संतोष नहीं है। प्रकाश तो मुझे मिल रहा है, पर बल की कमी महसूस करता हूं। यह विश्वास अवश्य है कि बापू के आशीर्वाद से वह मिलकर रहेगा।

दैनिक हिन्दुस्तान
(गांधी-अंक-१९४०)

: १२ :

गांधीजी की महान देन

संसार में अबतक कोई ऐसा महापुरुष नहीं हुआ जिसके जीवन-काल में उसे इतना महत्व मिला हो जितना महात्मा गांधीजी को मिला है। इसका क्या रहस्य है ? मेरी राय में इस का श्रेय उनकी अहिंसा को मिलना चाहिए। आप पूछेंगे क्या बुद्ध, महावीर, ईसामसीह, अहिंसा-धर्मी नहीं थे ? हां थे, लेकिन अहिंसा की धारणा, अहिंसात्मक संगठन तथा कार्यक्रम सबको जोड़ें तो उनसे गांधीजी का नम्बर बढ़ जाता है। बुद्ध की 'अहिंसा' में किसीने मांस अपने भोजन के लिए पकाया हो और वह भिक्षा में आ जाय तो उसे ग्रहण करने का निषेध नहीं था। गांधीजी की अहिंसा ऐसी अप्रत्यक्ष जिम्मेदारी से भी किसीको मुक्त नहीं करती। इस अर्थ में उनकी अहिंसा की धारणा बुद्ध की अहिंसा-धारणा से आगे बढ़ जाती है, अधिक सूक्ष्म और व्यापक है। महावीर जितने स्वयं अहिंसा के साधक या सिद्ध थे उतने संयोजक नहीं थे। ईसा मसीह के जीवन में जितनी अहिंसा की चमक मिलती है उतना उसका विधान, संगठन, कार्यक्रम नहीं। महात्माजी के जीवन में तीनों बातें बहुत बड़े पैमाने पर मिलती हैं—इसीसे उनका व्यक्तित्व केवल एक संत का, एक सिद्ध का, एक उपदेशक का नहीं रह गया, बल्कि एक महान् आध्यात्मिक स्फूर्तिदाता, धार्मिक सुधारक, समाज-व्यवस्थापक और राजनैतिक युग-नेता का व्यक्तित्व बन गया

हैं। उनकी अहिंसा-साधना ने उसमें सारे जगत के मानवों के लिए एक महान् आकर्षण, एक अद्भुत मोहिनी, एक विलक्षण सान्त्वना तथा शांति का भाव पैदा कर दिया है। संसार में बल के प्रचारक और समर्थक नेता हुए हैं, जिन्होंने अपने शास्त्रास्त्र से बड़ों-बड़ों के मद और गर्व का खण्डन कर डाला है। परन्तु किसीके शरण आने पर भी गौरवान्वित होने के बजाय उल्टी अधिक नम्रता का अनुभव करने वाला व्यक्ति संसार में गांधी के सिवा शायद ही दूसरा हुआ हो। उनके नजदीक 'विजय' गर्व की वस्तु नहीं, अधिक नम्र बनने का अवसर है। जब कभी भी उन्हें कहीं सफलता मिली है; उन्होंने अधिक नम्रता के साथ ईश्वर की प्रार्थना की है। उन्होंने मनुष्य के शरीर पर नहीं उसके हृदय पर राज्य स्थापित करने की कोशिश की है। आइए, आज उनकी जयन्ती के अवसर पर हम भी मनुष्यों के शरीरों को वश में करने की नहीं, उनके हृदयों को जीतने की साधना का संकल्प करें।

लेकिन अपनी वर्ष गांठ के अवसर पर खुद गांधीजी हमसे क्या चाहते हैं? चरखा चलाओ, खादी का प्रचार करो। जब पहले-पहले उन्होंने चरखा और खादी का नाम लिया, लोगों ने उन्हें मूर्ख कहा। आज भारत के बड़े-बड़े बुद्धिशाली नेता खादी के प्रचारक हैं। खादी का मन्त्र देकर गांधीजी ने हिन्दुस्तान को ही नहीं, सारी दुनिया को आर्थिक गुलामी और सामाजिक विषमता से छूटने का अचूक उपाय बताया है। मानव-जाति की आज सबसे बड़ी समस्या क्या है? यह इतना भीषण अमानुष रक्तपात यूरोप की भूमि पर क्यों हो रहा है? अकेले हम धनैश्वर्य के भोगी रहें—इस लिप्सा के कारण। इसने संसार को 'प्रभु' और 'दास' वर्गों में बांट दिया है। इस विषमता को मिटाने का

नहीं एक महान् सिद्धांत है जो अपने प्रभाव और परिणाम में बड़ा क्रांतिकारी है। वह कहता है कि जबतक धन और सत्ता एक केंद्र में रहेगी तबतक सच्ची जनसत्ता स्थापित नहीं हो सकती। धन को एक केंद्र में प्रतिष्ठित करने का नाम है पूंजीवाद और सत्ता को एक केन्द्र में स्थित करने का नाम है साम्राज्य-वाद। दोनों को मिटाना हो, तो धनसत्ता को विकेंद्रित करना पड़ेगा। यह खादी और ग्रामोद्योग के द्वारा ही हो सकता है, बड़े-बड़े कल-कारखानों से नहीं। भले ही यह बात हमें अटपटी और आज असंभव-सी लगती हो। यदि हम जीवन की ऊपरी चकाचौंध से बचकर उसकी वास्तविक आवश्यकताओं पर विचार करें, उन्हींकी पूर्ति के लिए समाज में अर्थ और राज-व्यवस्था की जरूरत है, इस बात पर ध्यान रखें तो खादी का अर्थात् हाथ-काम या गृह-उद्योग का महत्व तुरन्त समझ में आ जावेगा।

सारी मानव जाति को अभी भूल जायँ तथा हिन्दुस्तान के हितों और प्रश्नों का ही विचार करें तो खादी आज कांग्रेस-क्षेत्र में जो कि भारत का और उसकी जनता का वास्तविक प्रतिनिधि क्षेत्र है, विवादास्पद विषय नहीं रह गया है। किसी-न-किसी कारण से सब खादी की उपयोगिता मानते हैं। अतएव, गांधी-जयन्ती के इस पुण्य पर्व पर 'स्वराज्य' के तमाम पाठकों का यह पुनीत कर्तव्य है कि वे गांधीजी की महान देन 'अहिंसा' का मनन करें और जिस खादी को उन्होंने अहिंसा का प्रतीक बताया है उसके प्रचार में कोई कसर बाकी न रखें।

२३ सितम्बर, १९५१

: १३ :

सत्य का अवतार

महात्मा गांधी से बढ़कर निडर, साहसी और भयंकर सत्य का उपासक शायद ही कोई संसार में पैदा हुआ हो। सत्य का अर्थ है, जो कुछ दरअसल है उसे वैसा ही देखना, पाना और वैसा ही बताना। अतएव सत्य नग्न, निरावरण, निर्बाध और निःसंग ही हो सकता है। जरा भी मिलावट हुई, छिपने-छिपाने की कोशिश हुई, अटकना-अटकाना हुआ, चिपकने और चिपकाने की प्रवृत्ति हुई कि सत्य में, सत्य की साधना में खामी आ गई। सत्य को सूर्य की तरह समझिए। सूर्य जैसे अपने तेज से प्रकाशित और प्रज्ज्वलित रहकर संसार के अनेक कर्मों, प्रवृत्तियों व सुखादि का कारण बनता है परन्तु स्वयं निरावरण, निर्बाध और निःसंग रहता है वैसे ही सत्य और सत्यमय हो जाने वाला व्यक्ति अपने तेज से आप ही जलता, जागता, चलता और चलाता है। मुझे ऐसा लगता है कि गांधीजी अब सत्य की साधना में उस जगह पहुँच गये हैं जहाँ अहिंसा का छोर या मिश्रण या अनुपान खत्म होता है और केवल सत्य-ही-सत्य बाकी रह जाता है।

अहिंसा की आवश्यकता मनुष्य या समाज को तबतक और तभी तक है जबतक उसके सामने जगत है और जगत की महत्ता है। दूसरे शब्दों में, जबतक वह अपने को जगत् से पृथक् मानता है, जबतक हम दो हैं तबतक हमारा परस्पर

सम्बन्ध कैसा रहे, इसका निर्णय और नियम न करने की जरूरत रहती है। यह निर्णय और नियम अहिंसा है । जब जगत् से हम अभेद-भाव अनुभव करने लगते हैं, अर्थात् जब व्यक्ति समाजरूप, व्यष्टि-समष्टि-रूप हो जाता है तो अहिंसा का लोप होकर सत्य की स्थापना हो जाती है।

गांधीजी सत्य की साधना के लिए सत्यरूप हो जाने के लिए पैदा हुए हैं और जी रहे हैं। इस साधना को उन्होंने अहिंसा से शुरू किया और इसकी समाप्ति सत्य में होने जा रही है। सत्य का साधक एकमात्र सत्य को ग्रहण करना और पकड़ रखना चाहता है। उसके अलावा और उससे भिन्न प्रत्येक वस्तु को वह छोड़ने और देने के लिए तैयार रहता है और ऐसी हिम्मत रखता है। मैं समझता हूँ कि गांधीजी में यह साहस और शक्ति है। सत्य के लिए संसार के तमाम कष्टों, रोषों, उपहासों, दुर्वचनों, बदनामियों और भयंकरताओं को प्रसन्नता से सहने का सामर्थ्य मैं गांधीजी में देखता हूँ।

सत्य का साधक संसार से निरपेक्ष हो जाता है, वह संसार से अपने लिए किसी बात की चाह नहीं रखता, परन्तु संसार के अभाव-अभियोगों और कष्टों के प्रति उपेक्षा नहीं दिखलाता। गांधीजी की भी अपने लिए अब जगत् से कोई चाहना नहीं रह गई है। जगत के तमाम आकर्षण उनके लिए तुच्छ और अनाकर्षक हो गये हैं। परन्तु जगत के दुःखों और कष्टों का ध्यान उन्हें निरन्तर रहता है। संसार से विरक्त होने का अर्थ यह नहीं है कि संसार के दुःखों और कष्टों के प्रति उपेक्षा भाव आने लगे—बल्कि यह है कि संसार के किसी सुख और आकर्षण की हमें चाह न रहे। इस अर्थ में गांधीजी को हम परम विरक्त कह सकते हैं और ज्यों-ज्यों उनकी यह विरक्ति परिपूर्ण होती जायगी, त्यों-त्यों वे संसार सेवा के अधिक

सत्पात्र बनते जायेंगे। गांधीजी की अनेक चेष्टाओं, लक्षणों और प्रवृत्तियों को देखकर मुझे ऐसा लगता है कि उनमें सत्य का अवतार हुआ है और वह पूर्णता की ओर बढ़ रहा है।

गांधीजी के पुण्य जन्म-दिवस पर हमें उनके जीवन से कोई बोध लेना हो तो वह यही कि सत्य के सामने सारा संसार तुच्छ है और सब कुछ छोड़कर सत्य को ही पकड़ रखने की इच्छा हममें पैदा हो और ऐसा साहस हमें प्राप्त हो। सत्य की यह उपलब्धि हमें अहिंसा की परिपूर्णता से ही हो सकती है। सत्य की जिस साधना में अहिंसा की उपेक्षा हो उसमें अवश्य कोई विकार किसी-न-किसी रूप में असत्य–घुसा या छिपा हुआ होना चाहिए। अहिंसा की परिणत अवस्था का ही नाम सत्य है। जब हम सत्य को पा लेते हैं तो अहिंसा उपेक्षित नहीं बल्कि अनावश्यक और निरर्थक हो जाती है, यह बात हमें भुला न देनी चाहिए।

२ अक्तूबर, १९४९

: १४ :

यह गांधी-जयन्ती

अब की गांधी-जयन्ती ऐसे कुसमय में आई है जब कि खुद महात्माजी को अपना जीवन एक भार मालूम होने लगा है। जिसके चिरंजीव रहने की प्रार्थना हम नित्य और खासकर इस पुण्य पर्व पर परमात्मा से करते हैं, वह यह प्रार्थना करने लगा है कि यदि यह खून-खच्चर बन्द न हो तो भगवान् मेरे इस शरीर को उठा ले। इससे अधिक उनकी वेदना का परिचय किन शब्दों में हो ?

अतः आज के दिन हमारा पहला कर्त्तव्य है, देश में शान्ति स्थापित करना जिससे भारतवर्ष को एक उच्च कोटि का राष्ट्र बनाने व उत्तम समाज-व्यवस्था कायम करने का अवसर मिले। दूसरा कर्त्तव्य हमारा यह है कि जिस शासन या समाज-व्यवस्था का आदर्श महात्माजी के सामने है उसको बनाने में अपनी शक्ति लगावे। उस व्यवस्था का मुख्य स्तम्भ है चरखा—खुद कातना व खुद पहनना, या कहिए ग्रामोद्योग अथवा विकेन्द्रित उद्योग-व्यवसाय का महत्व लोगों को समझाना। महात्माजी की कोरी स्तुति करना और उनके आदर्शों की उपेक्षा करना, उनकी जयन्ती मनाने का सही उपाय नहीं है। वह यदि ढोंग नहीं तो खानापुरी जरूर है। ढोंग हमें गिरावेगा; खानापुरी से न तो हम आगे बढ़ सकते हैं न आत्म-सन्तोष ही पा सकते हैं।

भगवान् हमें इस महापुरुष के, जिनमें केवल तूफानों के सामने खड़े हो जाने का ही नहीं, बल्कि तूफानों व बवण्डरों के मुँह को मोड़ देने का बल है, इस क्षेत्र में जो आज संसार में अद्वितीय सिद्ध हो रहा है, उसके सच्चे अनुयायी बनने का बल व बुद्धि प्रदान करें।

३० सितम्बर, १६४७

: १५ :

ईश्वर के निकट

महात्माजी का यह उपवास पिछले उपवासों की अपेक्षा अधिक शुद्ध, ईश्वरमय था। किसी तप में जब कोई ऐहिक अभिलाषा नहीं रहती, कौन क्या कर रहा है यह जानने की उत्सुकता नहीं रहती, तब वह शुद्ध, ईश्वर के समीप ले जाने वाला, कहलाता है। महात्माजी ने एक मित्र से कहा था कि इस उपवास में मुझे जिज्ञासा तक नहीं होती कि लोग क्या कर रहे हैं। जिन लोगों ने दोष किये वे अपने हृदय को टटोलें, उसे बदलें, यही उनका उद्देश्य था। वह इस अंश तक पूरा हुआ कि दिल्ली के प्रतिष्ठित हिन्दू-मुसलमानों-सिखों ने मुसलमानों को शामिल रखने का लिखित आश्वासन दिया। इस उपवास से न केवल गांधीजी पाकिस्तान की ही, बल्कि सारे संसार की दृष्टि में सच्चे साधु, अनासक्त सिद्ध हुए। इससे उनकी संसार में कार्य करने की, भारत व तमाम भूमण्डल को अपना कार्य-क्षेत्र बनाने की शक्ति बहुत बढ़ गई। अब यदि वे पाकिस्तान को जा सकें तो उनकी सफलता का अगला कदम फिलस्तीन व उसके बाद का चीन आदि हो सकते हैं। गांधीजी को फिर १२५ साल जीने की बात याद आने लगी है।

हिन्द को एक बड़ा लाभ यह हुआ है कि सरदार पटेल को अलग तथा गांधीजी व पं० जवाहरलालजी को दूसरी कोटि में रखकर जो लोग सरदार की आलोचना करते थे या मुसलमानों

के खिलाफ उन्हें वता के अनर्थ कर व करा रहे थे, उनका भ्रम दूर हो गया। खुद महात्माजी ने कहा कि यह मानना ही भूल है कि सरदार, जवाहरलाल या मैं तीनों अलग-अलग हैं। हम तीनों की भाषा अलग-अलग है, पर मतलब सब का एक ही है। जब-तक यह त्रिमूर्ति एक है तभी तक भारत का भाग्य सलामत है।

इस उपवास के बाद लोगों को फिर अहिंसा में आस्था होने लगी। 'प्रेम के जादू' का असर उनपर होने लगा। हिन्दू मुहल्लों में मुसलमानों के स्वागत के दृश्य दिखाई देने लगे। नरक का द्वार बन्द होता व स्वर्ग का खुलना दिखाई देने लगा।

अब सवाल होता है कि गांधीजी आगे क्या करेंगे ? क्या पाकिस्तान जायँगे ?

२४ जनवरी, १६४८

: १६ :

मन्दिर में नहीं, हृदय-मन्दिर में

पर वे तो स्वर्ग को चले गये और उन्हें भेजा एक हिन्दू ने अपने पिस्तौल की गोलियों से। अँगरेज और मुसलमान जब उन्हें पूज रहे थे तब एक हिन्दू ने एक 'आदर्श' हिन्दू को दुनिया से मिटा दिया! और उस हत्यारे के साथी और भी कई लोग हैं, शायद कुछ संस्थाएँ भी हों। तब तो एक व्यक्ति को क्या कोसें? महात्माजी होते तो कहते—उन्होंने मुझे दुष्ट समझा, मार डाला। उनके लिए भगवान् से प्रार्थना करो–उनका हृदय बदलो। अपनी आत्मा शुद्ध करो। जबतक कोई हमें अपना शत्रु समझता है तबतक वह हमारी ही कमी का—हमारी अहिंसा-साधना की कमी का—लक्षण है। बापू की यह वाणी हमारी समझ में तो आती है, हमें ऊँचा उठने की जबरदस्त प्रेरणा करती है, फिर भी हमारे पाँव लड़खड़ाने लगते हैं। बापू, हमें बल दो!

अब क्या करें? रोवें? हताश होकर बैठ जाएँ? तब तो हम बापू की आत्मा को भी मार डालेंगे। गोडसे ने तो शरीर को मारकर उनकी आत्मा का बंधन तोड़ डाला—उसे अनन्त विश्व में अपना काम करने के लिए मुक्त कर दिया। हम असहिष्णु, प्रतिहिंसक, निराश बनकर अपने को उनकी आत्मा का हत्यारा सिद्ध करेंगे। बापू ने अपने जीवन में जो चमत्कार दिखाए, उनकी मृत्यु से प्रेरणा पाकर जब हम उससे अधिक चमत्कार

दिखावेंगे तभी उनके सपूत कहलाने के अधिकारी होंगे।

तो हम क्या करें? सब गांधीवादी व गांधी-भक्त सत्य व अहिंसा को अपना ध्रुवतारा बनाकर एकसूत्र में बंध जावें। कांग्रेस उनका जीता-जागता स्मारक बने। राम-राज्य की स्थापना वर्तमान सरकार का लक्ष्य हो। हिन्द को आदर्श राष्ट्र बनाकर पाकिस्तान या दूसरे पड़ोसी राज्यों को यह अनुभव होने दिया जाय कि हिन्द उनका अगुआ है। महात्माजी की मूर्ति हम मन्दिरों में, भवनों में नहीं, बल्कि अपने हृदयों में बिठावें और उनके उपदेश हमारी जबान से नहीं, बल्कि जीवन के एक-एक कण से ध्वनित हों। हम कितना काम करते हैं इसका हिसाब रखने की अपेक्षा कितनी शुद्धता से करते हैं, इसका हिसाब प्रत्येक व्यक्ति रखे। यदि हम ऐसा करेंगे तो हम अनुभव करेंगे कि बापू हमसे दूर नहीं गये, हमारे ही बीच जीते-जागते मौजूद हैं।

३१ जनवरी, १९४८

: १७ :

तात्कालिक कार्य

महात्माजी का खून जिस तरह हुआ उसका यह स्वाभाविक परिणाम होना था कि सम्प्रदायवाद के जहर के खिलाफ एक जबरदस्त लहर देश में यहाँ से वहाँ तक पैदा हो। जीते-जी, अपने हार्दिक प्रवचनों, व्याकुल आर्तनाद और अन्त में उपवास से—अपने सारे जीवन की घोर तपस्या से जो काम महात्माजी न कर सके वह उनकी अकाल मृत्यु घण्टों में और दिनों में कर दिखा रही है, यह आजकल के प्रत्येक अखबार को देखने से मालूम होता है। यह हिन्द राष्ट्र के उज्ज्वल भविष्य का चित्र है, जो महात्माजी के अभाव के घने व घोर अन्धकार में भी प्रकाश-किरण का काम दे रहा है। इस साम्प्रदायिक जहर का मुकाबला न अकेले सरकार की सत्ता से किया जा सकता है न अकेले लोक-बल से। दोनों का हार्दिक व सम्पूर्ण सहयोग आवश्यक है। क्या कांग्रेस हाई कमाण्ड, क्या वर्तमान सरकार के नेता व गांधीवाद के उत्तराधिकारी, क्या सम्प्रदाय-वाद-विरोधी दूसरे दल, सब का कर्तव्य है कि वे प्रगतिशील तत्वों व शक्तियों को संगठित करें, एक सूत्र में बांधें, व प्रतिगामी तथा साम्प्रदायिक संस्थाओं, जमातों, विचारों को पराजित करें, रोकें।

इस दृष्टि से वर्तमान मन्त्रिमंडल में आवश्यक परिवर्तन भले ही किया जाय, उसमें साम्प्रदायिक संकीर्ण दृष्टि के व्यक्ति

हर्गिज़ न रहें व प्रगतिशील तत्त्व शामिल किये जाएँ। इसमें जनता के तमाम प्रगतिशील व राष्ट्रीय तत्त्व सरकार को सहयोग दें। सहयोग कांग्रेस की शर्तों पर महात्माजी के सिद्धान्तों, आदर्शों व रीति-नीति के अनुसार हो। महात्माजी के निधन से आई महा विपत्ति का उपयोग अपने दल या विचारधारा का बल बढ़ाने की दृष्टि से नहीं, जैसी कि ध्वनि इधर के कुछ वक्तव्यों से निकलती है। सहयोग देना एक बात है, सत्ता लेना दूसरी बात है।

वर्तमान सरकार के नेताओं ने यह ऐलान किया था कि वे महात्माजी के दिखाये रास्ते पर चलेंगे। महात्माजी के रास्ते पर चलने के व्यावहारिक माने कम-से-कम ये ज़रूर हैं—

(१) केवल बाहरी आक्रमणों से देश की रक्षा के लिए ही सेना रखी जाय।

(२) भीतरी उपद्रवों को पुलिस-शक्ति से शांत किया जाय; इसके लिए लोग न तो शस्त्र, न कानून अपने हाथ में लें।

(३) आपसी व राष्ट्रीय झगड़ों को पंच-फैसले से निपटाने का प्रयत्न किया जाय।

(४) सम्पत्ति व सत्ता का केन्द्रीकरण न हो।

जो इन बातों को मानते हैं वही गांधीजी के रास्ते पर चलने का दावा पूरा कर सकते हैं। इन बातों को ध्यान में रखकर यदि मन्त्रिमण्डल में, कांग्रेस-कार्यसमिति या कांग्रेस-संगठन में परिवर्तन किया जायगा तो वह स्थायी, उपयोगी व फलप्रद सिद्ध होगा।

रामराज्य—सच्चा स्मारक

अपनी वीरोचित मृत्यु के बाद महात्माजी भारत के ही नहीं सारे विश्व के हृदय-सम्राट् बन गये। संसार के कोने-कोने से जो हार्दिक श्रद्धांजलियां बरस रही हैं वे यही साबित करती हैं। ऐसे महापुरुष का समुचित स्मारक बनने या बनाने की भावना किसके मन में उदय न हुई होगी, या होती हो ? कई सुझाव अब तक अखबारों में आ चुके हैं। यह स्वाभाविक ही है। परन्तु सोचना यह है कि वह स्मारक क्या हो ? कोई भी पार्थिव स्मारक चाहे वह कितना ही बड़ा हो, क्या उस महात्मा की विभु-सर्वव्यापी आत्मा को व उसके विश्वव्यापी आदर्श को पहुंच सकता है ? वह तो समुद्र या आकाश को घड़े में भरने जैसा है। अजमेर में एक मित्र ने स्मारक का जिक्र किया तो मेरे मुंह से तुरन्त निकला—बापू का कोई भौतिक स्मारक नहीं हो सकता। बापू ऐसे स्मारकों के खिलाफ थे। अब इतने दिनों के चिन्तन के बाद मेरा यह विचार और भी दृढ़ हुआ है। मेरी समझ से उनका कोई सच्चा स्मारक हो सकता है तो 'राम-राज्य' की स्थापना ही हो सकती है। हमारी सरकार व हमारी कांग्रेस दोनों 'राम-राज्य' को अपना अन्तिम लक्ष्य घोषित करके उनके स्मारक की नींव डालें। इसके नजदीक पहुंचने वाला दूसरा स्मारक हो सकता है उनके 'एक विश्व' के संदेश की पूर्ति, जो उन्होंने एशियाई सम्मेलन के अवसर पर दिया था। और भी

संकुचित दायरे में रहना चाहें तो कांग्रेस उनका एक स्मारक बन सकता है, बशर्ते कि वह उनके निधन के पहले सुझाये विचारों को अपना ले और तदनुसार अपना संगठन बनावे। मैं समझता हूँ कि इससे भिन्न किसी भौतिक स्मारक की कल्पना या योजना करना न तो उनके गौरव के अनुकूल होगा न उनकी इच्छा के ही। क्या अच्छा हो कि हम किसी भौतिक लेकिन सस्ते स्मारक की अपेक्षा 'राम-राज्य' की स्थापना जैसे सच्चे परन्तु कष्ट व व्ययसाध्य ही नहीं जीवन-साध्य स्मारक को खड़ा करें!

: १६ :

बापू का स्मारक

बापू का स्मारक बनाने के संबंध में कई सुझाव आये हैं। जो भी भौतिक स्मारक उनका बनाया जायगा वह उनकी महिमा के मुकाबले में कम ही होगा। भौतिक स्मारक बनाना मानो बापू को बहुत छोटे गज से मापना है, या सस्ता सौदा कर लेना है। केवल ब्याज देकर हमें उनसे उऋण हो जाने का प्रयत्न न करना चाहिए 'देवो भूत्वा देवं यजेत्'। उनके सपूत बनना ही उनका सच्चा स्मारक है। उनकी आत्मा की ज्योति अपने अंदर संचार करना, उनके गुणों का अनुकरण करना, उनके अधूरे कार्य-क्रम को पूरा करना, उनकी इच्छाओं को मान देना, उनका सपूत बनना है। धन इकट्ठा करना या उनकी मूर्तियां व भवन बना देना कौन कठिन है ? धन इकट्ठा किया जाय तो उनके कामों के लिए न कि उनकी मूर्तिपूजा के लिए; कोई स्मारक खड़ा किया जाय तो उनके आदेश उपदेश, आचार के पालन व प्रचार के लिए, न कि कोरे प्रदर्शन के लिए। अतः हम तो किसी भी भौतिक स्मारक को पसंद नहीं करते। परन्तु हम जानते हैं कि देश व दुनिया के भावुक भक्तों को सगुण साकार उपासना के बिना सन्तोष न होगा। अतः यदि स्मारक-कमेटी कोई ऐसा स्मारक बनाना ही चाहे तो उसका सबसे अधिक निर्दोष रूप शिला या स्तम्भ स्मारक ही हो सकता है, जिसपर बापू के आदर्श सिद्धान्त, उपदेश व वचन खुदे हों। वे हमारी कला के

भी अच्छे नमूने हो सकते हैं। जो पुस्तकों के द्वारा बापू के विचारों का प्रचार निषिद्ध नहीं मानते उन्हें शिला या स्तम्भों के प्रकार पर क्यों आपत्ति होनी चाहिए ?

फरवरी, १९४८

: २० :

बापू कैसे अमर रहेंगे ?

महात्माजी की स्तुति उनके जीवन-काल में ही इतनी हो चुकी थी और उनके अवसान के बाद जो उनके स्तुति-स्तोत्रों और लोगों के भक्तिभाव का जो प्रदर्शन तरह-तरह से हुआ, उसमें अब और वृद्धि करना अनावश्यक है। इस विषय में वे अब तक के तमाम महापुरुषों व अवतारों से आगे निकल गये। वे केवल एक संस्था, एक संगठन, एक बल व प्रकाश ही नहीं,अपने आप में एक युग, बल्कि विश्व थे—जीवन का कोई अङ्ग नहीं, जिसे उन्होंने अपने जादुई स्पर्श से सजीव न कर दिया हो। परन्तु उनके कोरे गुण-गान से हमारा कर्तव्य-भार हल्का नहीं हो सकता। यह तो केवल अर्घ्य-प्रदान हुआ। उनके स्मारक के भिन्न-भिन्न आयोजन भी करना सस्ता छुटकारा ही समझना चाहिए, यद्यपि वे मानव के भक्ति-भाव की पूर्ति के आवश्यक जैसे अङ्ग हैं। प्रश्न यह है कि अब उनके प्रति हमारी श्रद्धा-भक्ति क्या रूप ग्रहण करे ? वे ज्ञान, भक्ति व कर्म की त्रिवेणी थे। हमारे देखते-देखते वे नर से नारायण हुए। सदियों के गुलाम एक देश को बिना शस्त्रास्त्र के आजाद करा दिया—एक नवीन आदर्श समाज की दागबेल डाल गये और उसका मार्ग दिखा गये। हमें इस समय अपने कर्तव्य का ठीक-ठीक ज्ञान कराने के लिए, उनके ये स्मृति-चिह्न काफी हैं इनमें पहली बात है खुद हमारे जीवन का निर्माण, दूसरी नव-समाज-निर्माण में उसका

विनियोग। महात्माजी ऐसा समाज बनाना चाहते थे, जिसमें कोई किसीको दबाने न पावे, सब स्वतंत्र रहकर एक-दूसरे के काम आवें। इसे उन्होंने 'राम-राज्य' कहा है। यह तभी बन सकता है जब हम अपना जीवन सचाई के साथ व्यतीत करते हुए दूसरे के जीवन को बनाने में उसे लगावें। पहिला सत्य की साधना से व दूसरा अहिंसा की साधना से हो सकता है। इसीलिए उन्होंने सत्याग्रह पर—सत्य व अहिंसा की साधना पर इतना जोर दिया है। सच्चे प्रजातन्त्र की नींव व लक्षण अहिंसा ही है। अतः अब से हम अपने जीवन को सत्याग्रह की तराज़ू पर तोलते रहें। यह बिना सतत-जाग्रति के नहीं हो सकता। इसमें बापू का जागरूक जीवन हमारा पथदर्शक बन सकता है। केवल व्यक्ति या व्यष्टि-रूप में हम महान् या आदर्श बन जाएँ, यह काफी नहीं है। समाज या समष्टि में अपने को मिला देना हमारे जीवन की कृतार्थता है। व्यष्टि समष्टि की इकाई है। समष्टि में समावेशन उसकी परिपूर्णता है—यही मोक्ष है। व्यक्तिगत उन्नति हमारी यात्रा की आधी मंजिल है; समष्टिगत जीवन पूर्ण-साधना या पूरी मंज़िल है। महात्माजी ने न केवल अपने जीवन को बनाया, बल्कि उनका एक-एक क्षण देश, समाज, समष्टि के अर्पण किया—इसीमें उन्होंने जीवन की कृतार्थता मानी। यह हमारा दीपस्तम्भ होना चाहिए।

इससे हमारा लक्ष्य स्पष्ट हुआ—हमें उसका ज्ञान हुआ। पर ज्ञान के साथ लगन होनी चाहिए। उसके बिना कार्य में बल नहीं आ सकता, वह सफल नहीं हो सकता। लगन भक्ति से आती है। भावुकता का नाम भक्ति है। अपना कोई स्वार्थ न हो, जो कुछ किया जाय वह अपने इष्ट के लिए, लक्ष्य के लिए हो—यह भक्ति का मर्म व सार है। यदि हम महात्माजी के भक्त हैं तो हमारा जीवन—प्रत्येक कार्य उन्हींके लिए, उन्हींके प्रिय

कार्य या लक्ष्य के लिए, होना चाहिए। उसमें अपने व्यक्तिगत सुख-सुविधा का विचार वाधक न होने देना चाहिए।

भक्ति से प्रेरणा व वल तो मिलता है, पर सफलता काम करने से ही होती है। अतः हमारा जीवन सतत कर्ममय होना चाहिए। ऊटपटांग कर्म करने या करते रहने से सफलता नहीं मिलती। उसमें विवेक व दक्षता से काम लेने की जरूरत है। इसमें गांधीजी का जीवन हमारे लिए आदर्श है। वे विवेक व दक्षता की मूर्ति थे। उनका सारा जीवन इसका उदाहरण है।

कोरा कर्म नहीं, कार्य-योजना, कार्यक्रम होना जरूरी है। अपने तथा समाज दोनों के जीवन को वनाने का कार्यक्रम होना चाहिए। इसमें उनके वताये खादी व चर्खे का स्थान वहुत ऊँचा है। उन्होंने देश के सामने १५-विध कार्यक्रम रखा है जिसमें उन्होंने चर्खे को सूर्य की उपमा दी व दूसरों को नक्षत्रों की; जिन्हें सूर्य के आस-पास भ्रमण करते रहना है। मौन रहकर नियमित चर्खा कातना—योग-साधन की ही एक क्रिया है, वह यदि 'राम नाम' के जाप के साथ किया जाय तो पूरी आध्यात्मिक साधना हो जाती है। दूसरे तमाम कार्यक्रम भारत के भिन्न-भिन्न अङ्गों की त्रुटियों को पूरा करते हैं। जीवन के दोष हटा दिये जायं तो जीवन परिपूर्ण ही है। समाज-जीवन के इन गड्ढों को भरने के कार्यों को ही गांधीजी ने रचनात्मक कार्यक्रम कहा है। हम आजाद तो हो गये; परन्तु अभी हमारा भारतीय समाज सम्पूर्ण, सर्वांग-सुन्दर नहीं हुआ है। पहले हमें भारत में ही 'रामराज्य' का नमूना उपस्थित करना है। ग्राम पंचायतों की स्थापना से इसकी शुरुआत करनी होगी, जैसा कि कांग्रेस के नवीन विधान में वताया गया है। चर्खा अर्थात् विकेन्द्रित उद्योग 'रामराज्य' का साधन और ग्राम पंचायत का प्राथमिक स्वरूप हुआ। दूसरे शब्दों में चर्खा द्वारा हम आर्थिक स्वतन्त्रता

या आर्थिक प्रजातन्त्र की, स्वयं-पूर्ण ग्राम-पंचायतों द्वारा शासनिक प्रजातंत्र की स्थापना करना चाहते हैं। केवल हाथ उठाकर या पर्चा डालकर वोट दे देने में ही प्रजातंत्र की परिसमाप्ति न हो जानी चाहिए; व्यक्ति व समाज के समूचे जीवन में प्रजातंत्र का संचार होना चाहिए। यह तभी हो सकता है जब सम्पत्ति व सत्ता दोनों का ही विकेन्द्रीकरण करें।

जबतक बापू थे तबतक तो हम दौड़-दौड़कर उनके पास पथदर्शन के लिए चले जाते थे। अब तो उनके उपदेश, आचरण व गुण ही हमारे पथदर्शन का काम देंगे। इस दृष्टि से उनके विस्तृत जीवन-चरित्र का संग्रह, मनन व उनके गुणों का सतत अनुशीलन बहुत आवश्यक हो गया है। यही अब उनके प्रतिनिधि हमारे लिए रह गये हैं। शरीर तो आज या कल जाना ही; परन्तु उनका जीवन-चरित्र अमर है। उनके शरीर से कहीं अधिक व्यापक क्षेत्र में उनकी गति है। अतः इस अमूल्य निधि के सुयोग्य वारिस बनने का हमें पूरा प्रयत्न करना चाहिए। जब-तक हम ऐसा करते रहेंगे तबतक बापू हमारे अन्दर व हमारे बीच में अमर ही रहेंगे।

: २१ :

गांधीयन इलाज

बापूजी की हत्या गोडसे ने की, सारी दुनिया ने उसे बुरा कहा। फिर भी सुनते हैं कि गोडसे को इसपर कोई पश्चात्ताप नहीं है। हो सकता है कि गोडसे एक गलत आदर्श और गलत मनोवृत्ति का शिकार हुआ हो। जबतक मनुष्य किसी उचित या अनुचित उच्च-आदर्श से प्रेरित न हो तबतक वह ऐसा जघन्य कार्य नहीं कर सकता। इधर-उधर ऐसी गलत भावनाओं को उभाड़ा भी गया था, जिससे लोग ऐसे मनुष्य को ऐसे कुकृत्यों के लिए प्रोत्साहन दें। निश्चय ही गोडसे की इस कुकृत्ति के पीछे कुछ लोगों की एक विचार-धारा का और एक मनोवृत्ति का बल है जो गांधी-जी की विचारधारा और मनोवृत्ति के प्रतिकूल है। गोडसे और उसके साथियों पर मुकदमा चल रहा है। उसके कुछ साथी भाग गए हैं। सरकारी कानून के मुताबिक जिनके खिलाफ़ जुर्म साबित होगा उन्हें सजा दी जायगी। सवाल यह है कि हम लोगों को जो गांधीजी के रास्ते चलना चाहते हैं, इन सब घटनाओं को किस दृष्टि से देखना चाहिए और इनसे क्या नतीजा निकालना चाहिए। गोडसे और उसके साथियों को सजा मिल जाने से उनके आदर्श, विचारधारा और मनोवृत्ति में फर्क पड़ जायगा, यह नहीं कह सकते। यदि हमारा झगड़ा गोडसे से नहीं उस आदर्श, विचार-धारा या मनोवृत्ति से है जिसके असर से गोडसे ने इतना बड़ा दुःसाहस किया तो हमारा हमला उन्हींपर होना चाहिए। उसका

मुकाबला उन्हीं तरीकों से और उसी स्पिरिट से करना चाहिए, जो गांधीजी की है—अहिंसा दमन में विश्वास नहीं रखती; समझाने-बुझाने से अर्थात् शिक्षण और कष्ट-सहन में विश्वास रखती है। वर्तमान सरकार को गांधीजी की सरकार नहीं कह सकते, वह राष्ट्रीय सरकार है। अलबत्ते गांधीजी की छाप उस-पर बहुत कुछ पड़ी है। अतः वह अपने ढंग से गोडसे और साम्प्रदायिक कटुता को जैसा ठीक समझे इलाज करेगी। पर वह गांधीयन इलाज शायद ही हो।

दण्ड, फाँसी या दमन हृदय-परिवर्तन के साधन नहीं हैं। फाँसी देने पर तो हृदय-परिवर्तन का सवाल ही कहाँ रहा; अतः दण्ड और दमन के मार्ग को छोड़कर हमें शिक्षण का और आवश्यकता पड़ने पर कष्ट-सहन करने का मार्ग स्वीकार करना चाहिए।

इसका अर्थ यह हुआ कि हमें गोडसे के बिरादरी वालों में अधिक काम करना चाहिए। जो किसी-न-किसी रूप में अहिंसा के कायल हैं, वह हमारा वास्तव में कार्यक्षेत्र नहीं है। उन्हें तो अहिंसा को संगठित करने और बलिष्ठ बनाने की प्रेरणा और सहयोग देते रहना और प्रसंगानुसार मार्ग-प्रदर्शन करते रहना काफी है। अपार धैर्य और सहिष्णुता के साथ परिश्रम हमें करना होगा।

बापू के बलिदान से जो सबक देश को और दुनिया को मिलना चाहिए था सो मिल गया। उनके खून सने कपड़े सम्भालकर रखने से मेरी समझ से लाभ के बजाय हानि अधिक होगी। बापू के बलिदान की अपेक्षा गोडसे और उसके कृत्य की ओर ध्यान अधिक जायगा, जिसका अर्थ यह हुआ कि उससे अहिंसा की उस प्रेरणा मिलने के बजाय प्रतिहिंसा और कटुता के भाव मन में जगें। हमें यह भूलना नहीं चाहिए

कि यद्यपि गोडसे ने संसार का घोर जघन्य कर्म किया है फिर भी हमें उसका मुकाबला अहिंसा से करना है। बापूजी की हत्या से रोष के बजाय दया का भाव जब हमारे मन में हत्यारे और उसके साथियों के प्रति उपजने लगेगा और उसे सजा या फाँसी दिलाने के बजाय उसपर रहम करने का भाव पैदा होने लगे, तब समझ लेना चाहिए कि हम गांधीजी के रास्ते पर चल रहे हैं।

: २२ :

बापू की पहली बर्सी

बापू ने एक ओर कॉंग्रेस के द्वारा स्वराज्य की लड़ाइयाँ लड़ कर देश को आजाद किया, दूसरी ओर रचनात्मक संस्थाओं द्वारा नये समाज की रचना का मार्ग प्रशस्त किया। इन दोनों कामों को उन्होंने अपने व्यक्तित्व के साथ दाएँ-बाएँ हाथ की तरह जोड़कर एक-जीव कर दिया था। उनका शरीर एकाएक चला गया तो अस्तव्यस्तता आ जाना स्वाभाविक था। अब उनकी समन्वय-बुद्धि ही हमारी रक्षा कर सकती है और हमें आगे बढ़ा सकती है। हमने उनके सत्य व अहिंसा के मर्म को समझ लिया, रचनात्मक कामों में भी लगे रहे, शासन-काम भी सँभालते रहे, परन्तु समन्वय-बुद्धि से काम न लिया तो सामूहिकता न ला सकेंगे, न बढ़ा सकेंगे। व्यक्ति व वस्तु का रूप समझने के लिए विश्लेषण की जरूरत रहेगी, परन्तु उनसे काम लेने के लिए उन्हें एक जीती-जागती शक्ति बनाने के लिए समन्वय की ही शरण लेनी पड़ेगी। अपनी विशिष्ट अहन्ताओं को नियम, मर्यादा, संयम में लाना और व्यापक हितों का विचार प्रधान रूप से करना ही समन्वय की प्रवृत्ति है। समन्वय के बिना 'सर्वोदय' शब्द ही निरर्थक हो जाता है। 'सर्व' का अर्थ ही है 'अकेला मेरा नहीं।' बापू की इस पहली बर्सी पर हमें बापू के नाम का नहीं बापू के काम का अधिक स्मरण करना चाहिए। और काम से भी अधिक बापू की विशिष्ट—समन्वय-बुद्धि—को अधिक अपनाना

चाहिए। नाम हमारे लिए सहारा है, काम बापू को सन्तोष व समाज को सुख देगा, स्पिरिट—समन्वय-बुद्धि—व्यक्ति व समाज दोनों को बापू के सर्वोदय के लक्ष्य तक पहुँचावेगी।

जनवरी, १९४९.

: २३ :

गान्धी-जयन्ती

(१)

गान्धी-जयन्ती श्रद्धा के साथ जगह-जगह मनाई गई, श्रद्धांजलियाँ भी अर्पित की गईं—यह सब हमारे कल्याण के लिए हुआ। गांधीजी से जो कुछ बना, जी-जान लड़ाकर हमारे लिए कर गये, अब हम उनके नाम पर या उनके सहारे जो-कुछ कर लें वही हमारे काम आने वाला है। यदि हम कोरा जबानी जमा-खर्च करके रह जाते हैं तो अपनी ही हानि करते हैं, यदि हम वास्तव में उनके बताए मार्ग पर चलते हैं तो अपना ही श्रेय साधते हैं। श्रेष्ठ बात तो यह है कि बोला कम जाय और किया अधिक जाय। अभी हमें अधिक कहने व कम करने की आदत पड़ी हुई है। यह हमें छोड़नी होगी। उसके छूटने पर ही हम गांधीजी के मार्ग पर चल सकते हैं। खुद गांधीजी ने इसी नियम पर चलकर सिद्धि प्राप्त की थी। जो अपने को गांधीजी का अनुयायी मानते या कहते हैं, उनपर इसकी जिम्मेदारी सबसे ज्यादा है। उन्हें, छोटे रूप में क्यों न हो, गांधीजी की प्रतिमूर्ति बनने का प्रयत्न करना चाहिए। गांधीजी की योजनाओं और कार्यक्रमों को चलाने की भावना के साथ-साथ गांधीजी के गुणों का अनुकरण करने व गांधीजी जैसी शक्ति प्राप्त करने का भी प्रयत्न करना चाहिए। उन गुणों व शक्तियों के अभाव में कोरी लकीर पीटना या आत्मश्लाघ बनकर रह जाना ही हमारे हाथ

आवेगा। अतएव हमारी राय में तो गांधी-जयन्ति से हमें आत्मशोधन की जबरदस्त प्रेरणा मिलनी चाहिए।

अक्तूबर, १९४८.

(२)

गांधी-जयन्ती को बापू ने 'चरखा-जयन्ती' नाम दिया—उन्होंने व्यक्ति को भुलाकर वस्तु—आदर्श—को याद रखने पर जोर दिया। व्यक्ति आदर्श का प्रतीक है और होना चाहिए, जैसे कि आदर्श व्यक्ति को व्यक्तित्व प्रदान करता है। व्यक्ति अपने को मिटाकर आदर्श को उज्ज्वल रखे—व्यक्ति समष्टि में मिले, यही स्वाभाविक स्थिति होनी चाहिए। चरखा बापू के लिए कोरा वस्त्र-साधन नहीं था, वह अहिंसा का प्रतीक है। अहिंसात्मक समाज-रचना (सर्वोदय) का मुख्य स्तम्भ या मेरु-मणि है। इसका अर्थ यह हुआ कि जिन्हें गांधीजी के प्रति श्रद्धा है, उन्हें चरखा कातना चाहिए और वह भी अहिंसा-साधना की दृष्टि से। चरखे के द्वारा यदि हम भारत को और सारे मानव-समाज को कपड़े की चिन्ता से मुक्त करें तो यह भी बहुत बड़ी सिद्धि होगी; 'सर्वोदय' के शरीर की रचना उससे होगी, परन्तु प्राण तो अहिंसा-भाव के विकास से ही उसमें आ सकता है। 'अहिंसा' के कम-से-कम दो अर्थ स्पष्ट हैं: एक तो हम अपने उद्देश्यों व कार्यक्रमों की सिद्धि के लिए केवल शुद्ध साधनों से ही काम लें, दूसरे हम संकुचितता, वैर, द्वेष की भावना छोड़कर व्यापक उदार भावना रखें व परस्पर सहयोग-वृत्ति से, सामाजिकता से काम लें। मतभेद, नीतिभेद, कार्यभेद, होते हुए भी हम एक-दूसरे के प्रति घृणा, तिरस्कार, तुच्छता के भाव न रखें; गुण-ग्रहण-शीलता, परमत-सहिष्णुता, को बढ़ावा दें। इन मानसिक गुणों के विकास के साथ और उनका प्रतीक मानते हुए यदि हम

चरखा कातते हैं तो अवश्य ही 'सर्वोदय' को निकट लावेंगे और यही बापू के प्रति हमारी सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

सितम्बर, १९४९.

(२)

गांधी-जयन्ती के उत्सव मनाये जा रहे हैं। चारों ओर से गांधीजी पर व्याख्यान, लेख आदि की माँग हो रही है, इनकी वृष्टि-सी हो रही है। खुद उन्होंने अपने और अपने आदर्श, विचार, कार्यक्रम आदि के बारे में इतना लिखा है, उनके भक्तों, प्रेमियों, अनुयायियों ने भी अबतक उनपर इतना प्रकाश डाला है कि अब आगे क्या लिखा जाय और कैसे लिखा जाय? सूर्य का वर्णन कहाँ तक व कैसे करें? उसकी एक-एक किरण के प्रभाव, कार्य, परिणाम को जानना, समझना, कहना, लिखना कठिन है—बल्कि असम्भव है, यही हाल गांधीजी का है—प्रायः प्रत्येक महापुरुष का होता है। वे जितने प्रकट रहते हैं उससे कहीं अधिक अप्रकट रहते हैं। उस अप्रकट का ही थोड़ा-सा अंश प्रकट होता है, जिससे दुनिया चकाचौंध हो जाती है। उस प्रकट को भी हम समझ लें और जितना समझ लेते हैं उसे हजम करके जीवन में चरितार्थ कर लें तो बहुत है। मुझे कुछ ऐसा लग रहा है कि गांधीजी को हजम करने की बनिस्बत उनके गुण-गान में ही हमारी अधिक शक्ति व्यय हो रही है। व्यक्ति के कोरे यशो-गान की अपेक्षा उसके विचारों को समझना ज्यादा महत्वपूर्ण है और कोरा समझ लेने से अधिक बेशकीमती है उनपर अमल करना। गांधीजी ने हमें 'सत्याग्रह' का मंत्र दिया—'सर्वोदय' की दिशा दिखाई। हम इन्हें समझने का कितना यत्न करते हैं? अपने जीवन में, अपने घरेलू व संस्थागत जीवन में इन्हें उतारने का कितना प्रयास करते हैं? घर के

संस्था के, समाज के, झगड़ों को कितना शान्ति, सद्भाव, समझौते की भावना, पंच-फैसले आदि के अनुसार निपटाते हैं ? गांधीजी का नाम लेकर भी उनके भक्त कहलाकर भी हम झूठ-सच, छल-कपट, तिकड़म आदि सूक्ष्म हिंसा व असत्य के साधनों से कितना वंचित रहते हैं ? अपने से मतभेद, कार्य-भेद रखने वालों के प्रति कितने समभाव से वर्तते हैं ? चरखा कितना कातते हैं ? हरिजनों के प्रति घरोपा कितना पालते हैं ? ये तथा दूसरे ऐसे कितने ही प्रश्न हैं, जो मन में उठते हैं और जिनका सही उत्तर हमें इस पखवाड़े में अपनी अन्तरात्मा से मिलना चाहिए। गांधीजी हवाई फिलासफर नहीं थे, कर्ममूर्ति थे। हम उनकी जयन्ती उनके आदर्श को समझकर उनके अनुसार चलने की दृढ़ प्रतिज्ञा करके ही मना सकते हैं। गांधीजी की विश्वव्यापक आत्मा हमें इसीका बल दे।

१ अक्तूबर, १९४६

श्रद्धाञ्जली

पुण्य-श्राद्ध

लोकमान्य एक संस्था थे। उनके जीवन का आदर्श था—स्वतन्त्रता—स्वराज्य। उनकी मृत्यु का सन्देश है—स्वराज्य। उनका श्वासोच्छ्वास था—"स्वराज्य मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार है।" स्वार्थ-त्याग और कष्ट-सहन उनके जीवन के नियम थे। देशभक्ति उनके रुधिर का धर्म था। निर्भयता और तेजस्विता उनके आत्मा के गुण थे। राजनीति के तो वे योद्धा ही थे। प्रतिपक्षी को वे ग्रीष्म के मध्याह्न मार्तण्ड की तरह असह्य थे। राजनैतिक वाग्युद्ध में अथवा लेखन—संग्राम में जब वे अपने शत्रु पर अग्न्यास्त्रों अथवा सम्मोहनास्त्रों का प्रयोग करते थे तब उनके छक्के छूट जाते थे। सर्वांगीण प्रतिभा उनके मस्तिष्क का वैभव था। विद्वत्ता से तो मानो उनकी मित्रता ही थी। सादगी उनके आचार का पहला पाठ था। चारित्र्य मानो उनके जीवन की विजय-ध्वजा थी। निस्पृहता की आवाज़ उनके रोम-रोम से आती थी। 'गीता-रहस्य' उनके अध्यात्म-ज्ञान का स्मारक है। नीति तो उनके पीछे-पीछे चलती थी। आत्म-सम्मान उन्हें प्राणों की तरह प्यारा था। वर्तमान तीव्र राज-नैतिक जीवन के वे जनक थे। राष्ट्र के सिरताज थे। महाराष्ट्र के तो आराध्यदेव ही थे। वे नवीन चैतन्य-युग के निर्माता थे, शासक थे। मृत्यु-पर्यन्त वे नौजवान ही रहे! आत्मविश्वास उनके हृदय का बल था। स्वावलम्बन उनके सारे चरित्र का उपदेश है। दो-तीन बार जेल जाकर उन्होंने देश को स्वराज्य का मार्ग दिखा दिया। वे 'स्वदेशी' मय थे—स्वदेशी ही आचार-

विचार, स्वदेशी ही भोजन-पान और स्वदेशी ही वेश-भूषा। अपनी आर्यता का, भारत के प्राचीन वैभव का, विद्या-कला का, अपने पुरुषार्थी पूर्वजों का उन्हें बड़ा अभिमान था। अपना जीवन उन्होंने राजनीति के—स्वराज्य के अर्पण कर दिया था। कौटुम्बिक अथवा शारीरिक सुख उनके लिए उपन्यास की वस्तु थी। वे इस विषय में पूर्ण उदासीन थे—विरक्त थे। उनके निजी जीवन तो था ही नहीं। वे राष्ट्र की सम्पत्ति थे। देश के लिए जिये, देश के लिए मरे। हिन्दू-मुस्लिम-एकता का सूत्र-पात लखनऊ में उन्हींके द्वारा हुआ। हिन्दी भाषा को वे राष्ट्रभाषा मानते थे। उनके 'केसरी' में कुछ दिनों तक एक कालम हिन्दी का भी रहा करता था।

देशी भाषा के पत्रों में तो अपने समय में वे एक ही पत्र-सम्पादक थे। उनकी निर्भीक और मार्मिक परन्तु दिल दहला देने वाली टिप्पणियों से सरकार भी विलविला उठती थी। अंग्रेजों की दृष्टि में वे 'भारत की अशान्ति के जनक' थे। राज-द्रोह वाले मामले में उनकी दी हुई सफ़ाई उनके क़ानून-चातुर्य का ऐतिहासिक प्रमाण है। उनकी कीर्ति की भौगोलिक सीमा न थी। विपत्तियों का उनके साथ विशेष प्रेम था। और वे भी एक खिलाड़ी की तरह उनका सानन्द स्वागत और अतिथि-सत्कार करते थे। एक महामना के यहाँ आश्रय पाकर वे भी अपने को धन्य-धन्य मानतीं। राज-कोप उनके लिए एक नित्य की और उपेक्षायोग्य वस्तु हो गई थी। वे सरकार की आलोचना और विरोध अपने पूरे वल के साथ करते। सरकार-रूपी पत्थर की दीवार से टक्कर मार-मार कर उनका शरीर भी राजकोप की पहुँच के वाहर कड़ा हो गया था—पहाड़ों पर जिस प्रकार वरसात की बूंदें। इसलिए वे राजमान्य नहीं लोकमान्य थे। उन्होंने राजमान्यता और लोकमान्यता में विभाजक रेखा खींच

दी। यह भेद तो स्वराज्य में ही लय पा सकता है।

लोकमान्य इन्द्रियों के सेवक नहीं, शास्ता थे। युवावस्था की उनकी उग्रता तपस्या की आग से तपकर तेज और शान्ति के रूप में परिणत हो गई थी। गीता-रहस्य लिखने के पहले के तिलक, गीता-रहस्य लिख चुकने वाले तिलक से भिन्न थे। पहला राजस था और दूसरा सात्विक। शत्रु के लिए पहला उग्र और असह्य था, दूसरा शान्त और भजनीय।

लोकमान्य के संकट-साहसमय अद्भुत राष्ट्रीय कार्य को संक्षेप में कहना चाहें तो "संसार ने लोकमान्य को १८५६ का भारत सौंपा और लोकमान्य ने संसार के हाथ में १९२० का भारत दिया।" उनकी मृत्यु के कारण संसार ने विद्वत्ता और राजनीति में अपनी दरिद्रता को अनुभव किया।

परसों इसी 'कर्मयोगी' की 'पुण्यतिथि' है। वे स्वराज्य का जप और ध्यान करते-करते मरे। उनकी चिता-भस्म से असहयोग का जन्म हुआ। इस महापुरुष का श्राद्ध भारत किस प्रकार कर सकता है? स्वराज्य-साधना से बढ़कर उनका सच्चा श्राद्ध और स्वराज्य-प्राप्ति से बढ़कर उनका शोभनीय स्मारक और क्या हो सकता है? लोकमान्य ने हमें मन्त्र दिया—स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है; *महात्माजी ने हमें उसके आगे का सूत्र बताया—स्वदेशी हमारे जन्म का धर्म है और शिक्षा दी—स्वदेशी में ही और स्वदेशी से ही स्वराज्य है।* १ अगस्त को एक की आत्मा तिरोहित हुई और दूसरे की बिजली की तरह प्रकट। भारत यदि अपने दोनों नेताओं के प्रति वफादार है तो स्वदेशी को अपना कर—खादी पहनकर स्वराज्य प्राप्त करना ही उसका एकमात्र धर्म है। यही महात्माजी का मुक्ति-मंत्र है—यही *लोकमान्य का श्राद्ध है।*

अगस्त, १९२६

: २ :

बलिदान और आत्म-शुद्धि के लिए

स्वामी श्रद्धानन्दजी के खून में ईश्वर का गहरा हेतु छिपा हुआ दिखाई देता है। शायद वह हिन्दुओं की अकर्मण्यता, जड़ता और छिन्न-भिन्नता पर तथा मुसलमानों की जहालत, अमर्याद हिंसावृत्ति और धर्मान्धता पर मन-ही-मन दुःखी और कुढ़ता रहता हो और स्वामीजी जैसे पुरुषार्थी, त्यागी, दबंग और अपनी लगन तथा धुन के पक्के हिन्दू-नेता की एक साधारण मुसलमान द्वारा हत्या कराना उसे इन दोषों का सबसे अच्छा इलाज दिखाई दिया हो। स्वामीजी के खून की पूर्ति उसी अवस्था में हो सकती है जब कि हिन्दू एक समाज की हैसियत से अपनी दुर्बलताओं और त्रुटियों को दूर करने में जुट पड़ें, काम और त्याग ज्यादा करें, बोलें और बकें कम, तथा मुसलमान अपनी संस्कृति के उस हिस्से को, उस धब्बे को धो डालें जो उन्हें दुनियां की नजर में बर्बर और जाहिल साबित करता है। इस घटना के द्वारा हिन्दुओं का सब तरह हित ही हुआ है; मुसलमान चाहें तो उनका भी हित इसके अन्दर छिपा हुआ है। स्वामीजी का बलिदान हिन्दू-मुसलमान दोनों को अपनी निर्बल-ताएँ—एक की जड़ता और दूसरे की जहालत—दूर करके एक-दूसरे के नजदीक़ आने की प्रेरणा कर रहा है।

यह खून चाहे अब्दुल रशीद के अपने दिमाग़ की उपज हो, चाहे धर्मान्ध उपदेशकों के जोश का फल हो, चाहे किसी साजिश

का परिणाम हो, एक बात निर्विवाद है कि यह मुस्लिम-स्वभाव और संस्कृति के वर्तमान दूषित स्वरूप और अङ्ग का भी परिणाम है। यदि मुसलमानों को जन्म से ही धर्मान्ध, जाहिल और हिंसा-प्रधान बनने की शिक्षा न दी जाती तो उनके समाज में ऐसे कुकृत्य का इतना विरोध होता और उनके अन्दर आत्म-शुद्धि की इतनी जबरदस्त लहर अबतक फैल जाती कि हिंदुओं को उनकी इस हानि का बदला मिल जाता। यदि हिन्दू और मुस्लिम स्वभाव में कोई अन्तर न होता तो शायद किसी मुस्लिम नेता का खून किसी हिन्दू के द्वारा पहले हो जाता। पर हिन्दू-संस्कृति ऐसे जघन्य कर्मों से नफरत करती है और यही हिन्दू-समाज को अबतक अनेक आक्रमणों, आघातों से बचा रही है।

स्वामीजी ब्रह्मचर्य के उपासक, सत्य के पूजक, त्याग की प्रतिमूर्त्ति, निर्भीकता के प्रतीक और लगन के सच्चे आदमी थे। स्वामीजी का स्मरण होते ही क्षात्र-तेज की दिव्य मूर्त्ति आंखों के सामने खड़ी हो जाती है। हिन्दू-जाति और हिन्दू-धर्म का सिर आज, स्वामीजी के बलिदान के कारण, संसार में ऊंचा हो गया है। हिन्दू उसी अवस्था में स्वामीजी के और इस पवित्र बलिदान के योग्य अपने को साबित कर सकेंगे जब वे उनके समस्त सद्गुणों के अनुकरण की प्रतिज्ञा कर लेंगे और उनके अङ्गीकृत अधूरे कार्यों की पूर्त्ति में तन, मन, धन से जुट पड़ेंगे।

दिसम्बर, १९२६

: ३ :

मीरा

तू भक्ति है। भक्ति ही शक्ति है। भक्ति और शक्ति से मुक्ति है। भक्ति दे! मुक्ति दे! वर्तमान कष्टों से, बन्धनों से मुक्ति दे!

तू प्रेम है। प्रेम विश्व की सत्ता है। विश्व प्रेम की महत्ता है। हमें प्रेम दे, प्रेम की सत्ता दे। विष का प्याला पी जाने वाला पागल प्रेम दे!

तू पवित्रता है—राजस्थान की ही नहीं, सारे आर्यावर्त की। पवित्रता जीवन की कला है। कला जीवन की पवित्रता है। अपने चरित्र की पवित्रता हमें दे! अपने कण्ठ की कला हमें दे!

तू ने गिरिधर नागर को पहचाना। तू उसपर न्योछावर हुई। संसार आज तुझपर न्योछावर हुआ जाता है। हमसे गिरिधर नागर* की पहचान करा! हमें तद्रूप कर दे!

फरवरी, १९२५

*गिरिधर = जनता के दुःखों का पहाड़ उठाने वाला।
नागर = नगरवासियों की निर्मल सेवा करने वाला आदर्श नागरिक।

: ४ :

महर्षि दयानन्द का सन्देश

मनुष्य-समाज उन्नतिशील है। उसकी इच्छा हो या न हो, वह कोशिश करे या न करे, उसकी उन्नति एक प्राकृतिक नियम है। परन्तु उस उन्नति की गति समुद्र की लहरों की तरह सीधी और सदा आगे बढ़ने वाली नहीं देखी जाती, बल्कि सांप की चाल की तरह, नदी की धारा की तरह, या बिजली की लकीर की तरह टेढ़ी-मेढ़ी होती है। एक आदमी जब वेगवती नदी के प्रवाह में उस पार जाने के लिए कूदता है तब वह परले किनारे पर पहुँचता तो है; परन्तु कुछ नीचे बहकर। इसी तरह मनुष्य समाज सृष्टि के घोर महा-प्रवाह में पड़कर, अपने पुरुषार्थ के बल, पार तो लगता है, परन्तु नीचे हटकर।

इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य-समाज के सब प्रयत्न सर्वदा एक ही दिशा में नहीं होते। कभी-कभी वे परस्पर विरुद्ध दिशाओं में भी होते हैं। उन्नति की दिशा में किये गए प्रयत्न को हम पुण्य कहते हैं, अधोगति की दिशा में किये गए को पाप। इन पुण्य और पाप के आघात-प्रतिघात के कारण मानव-समाज की उन्नति का रास्ता टेढ़ा हो गया है। कभी वह आगे बढ़ता हुआ दिखाई देता है, कभी दायीं या बायीं ओर। कभी-कभी पीछे हटता हुआ दिखाई देता है। जब वह दायें, बायें या पीछे हटता है तब उसमें आवश्यक, पोषक और आरोग्यदायी तत्वों का अभाव सूचित होता है। समाज का हृदय उस अभाव को

अनुभव करने लगता है। महापुरुषों का जन्म उसके इस अभाव की अनुभूति का फल है। भक्त और श्रद्धालु कवियों ने इस अवस्था का वर्णन इस तरह किया है—"जब-जब धर्म की हानि होती है, दुनिया में पाखण्ड और पाप बढ़ जाता है तब-तब धर्म की स्थापना के लिए परमेश्वर अवतार लेता है।" महर्षि दयानन्द ऐसे ही महापुरुष थे। धर्म के नाम पर अनेक कुरीतियों, पाखंडों और पापों का समर्थन होता था। उन्होंने अपनी विभूतिमत्ता के द्वारा तत्कालीन हिन्दू-समाज में घोर धर्म-मन्थन करके १० सिद्धान्त-रत्नों को प्रकट किया जो कि अब आर्य-समाज के जीवन-तत्त्व हो रहे हैं। इनमें महर्षि का परम तत्त्व था सत्य। उनका सबसे पहला सिद्धान्त है—"सब सत्य विद्या और सत्य विद्या से जो पदार्थ माने जाते हैं उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।" उनका तीसरा नियम है—"वेद सत्य विद्याओं की पुस्तक है, वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।" उन्होंने चौथा नियम बनाया—"सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सदा उद्यत रहना चाहिए।" पाँचवाँ नियम रचा—"सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार कर करना चाहिये।" उन्होंने अपने मुख्य-ग्रंथ का नाम भी "सत्यार्थ-प्रकाश" रखा। उसमें भी उन्होंने सत्य के अवलम्बन पर जगह-जगह जोर दिया है। सत्यार्थ-प्रकाश लिखते समय वे प्रतिज्ञा करते हैं 'मैं सत्य बोलूंगा, सत्य मानूंगा और सत्य ही करूंगा।' उन्होंने वेदों की महिमा इसलिए गाई कि उसमें उन्हें सत्य-ही-सत्य दिखाई दिया। उन्होंने मूर्त्ति-पूजा और श्राद्ध का खण्डन इसलिए किया कि उन्हें वह पाखण्ड जान पड़ा। उन्होंने अन्य धर्म-सम्प्रदायों पर आक्रमण इसीलिए किया कि वे उन्हें सत्य से रहित मालूम होते थे। मतलब यह कि महर्षि दयानन्द ने जितने काम किये सब सत्य

से प्रेरित होकर ही किये। अतएव मेरी राय में महर्षि दयानन्द का जीवन-सन्देश यदि कुछ हो सकता है तो वह है "सत्य—सत्य की खोज, सत्य की आराधना, सत्य का पालन।"

सत्य सनातन है। सत्य त्रिकालाबाधित है। सत्य एक है। संसार के समस्त विचारकों और अनुभवी आत्माओं का यही अन्तिम निर्णय है। फिर भी हम देखते हैं कि सत्य की उपासना के उनके बताये मार्ग जुदा जुदा हैं। इससे हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि सत्य की उपासना का कोई एक मार्ग अबतक निश्चित नहीं हुआ है। पर इतनी बात तो निश्चित है कि सत्य का प्रत्येक उपासक अपने जीवन को सत्यमय बनाने का प्रयत्न करे। सत्यमय जीवन का अर्थ क्या है? सत्य को अपना लक्ष्य बनाना, सत्य का ही विचार करना, सत्य ही बोलना और सत्य का ही आचरण करना।

दूसरे शब्दों में यह कहें कि हमारे मन, वचन और कर्म तीनों में एकता हो, तीनों सत्य के रंग से रंगे हुए हों। 'मनस्येकं वचस्यन्यत्' सत्य के अनुयायियों का मार्ग नहीं। आर्य वही है जो सत्य का भक्त हो। आर्य और दस्यु या अनार्य का अर्थ-भेद बताते हुए महर्षि हमें इस नतीजे पर पहुँचाते हैं कि आर्य वह है जो अहिंसक हो, दस्यु वह है जो हिंसक हो। इसका कारण यह है कि सत्य की प्राप्ति अहिंसा के बिना नहीं हो सकती। अहिंसा अर्थात् प्राणिमात्र के प्रति प्रेम-भाव, निर्मल भाव, न हो तो मनुष्य सत्य और असत्य का निर्णय नहीं कर सकता, केवल बुद्धि या शुष्क तर्क अधिकांश में मनुष्य को स्वार्थ-प्रवृत्त बना देते हैं। 'सब से प्रीति-पूर्वक धर्मानुसार यथा-योग्य वर्तना चाहिए' और 'प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए।' इन नियमों में हम इसी सत्य को निहित पाते हैं।

महर्षि दयानन्द राजपूताने में बहुत रहे हैं। मालवे में भी उन्होंने भ्रमण किया है। अजमेर तो उनका एक केन्द्र ही था। जोधपुर के सिर तो उनको जहर देने के कलङ्क का टीका सदा के लिए लग गया। अपने को जहर देनेवाले के विषय में 'संसार को कैद कराने नहीं वरन् छुड़ाने आया हूँ।' 'यदि वह अपनी दुष्टता को नहीं छोड़ता तो हम अपनी श्रेष्ठता को क्यों छोड़ें?' इस आर्य अहिंसा की घोषणा करने वाले, सत्य का और इसलिए स्वतंत्रता का, संदेश देने वाले महर्षि के घात का प्रायश्चित्त राजपूताना उनके इस सन्देश को ग्रहण करके ही कर सकता है।

: ५ :

क्षत्रिय संन्यासी

स्वामी श्रद्धानन्दजी के उठ जाने से ऐसा प्रतीत होता है,
मानो आर्यसमाज का तेज खण्डित हो गया। जो ज़रा भी
स्वामीजी के सम्पर्क में आया उसपर उनकी निडरता, साहस,
वीरता और पुरुषार्थ की छाप पड़े बिना नहीं रहती थी। कोई
उनसे कितना भी मतभेद रखता हो, यह तो कहना ही पड़ता
है कि वे तेज और बलिदान के जीवित उदाहरण थे। तेज और
बलिदान एक सिक्के के दो पहलुओं की तरह हैं। जब तेज किसी
अपमान, अन्याय और जुल्म को सहन नहीं कर सकता तब वह
बलिदान में परिणत हो जाता है। स्वामीजी की तेजस्विता को
यह मंजूर नहीं था कि उनका समाज और देश पददलित होता
रहे। तभी तो उन्होंने १९१९ में अपनी वीरता का अद्भुत
परिचय दिया। गोली चलाने के लिए सैनिक रायफल ताने हुए
हैं—स्वामी सीना तानकर उसका स्वागत करने के लिए तैयार
हो जाते हैं, सिपाहियों की बन्दूकें तनी-की-तनी ही रह जाती हैं।
उस दिन सारा भारतवर्ष स्वामीजी की वीरता पर मुग्ध हो गया।
ऐसी ही निडरता और वीरता गुलाम देश को आज़ादी की राह
दिखा सकती है।

तेज उसीमें आ और रह सकता है जिसमें सत्य का संस्कार
हो। अपने सत्य के विपरीत हर बात का विरोध करने की शक्ति
का ही नाम है तेज। जितना सत्य का अंश इसमें होगा, उतना

ही प्रबल विरोध असत्य का हमसे हो सकेगा। अन्याय अत्याचार असत्य के ही दूसरे नाम-रूप हैं। कोई किसी-का हक़ न छीने, यह एक व्यावहारिक सत्य है। जब कोई किसी के अधिकार पर आक्रमण करता है तो उसे हम अन्याय, अत्याचार आदि नामों से पुकारते हैं, किन्तु वास्तव में यह उस व्यावहारिक सत्य का भंग अतएव असत्य है। कुकर्मों का, कुप्रथाओं का, कुशासन का विरोध असत्य का विरोध है। स्वामीजी में ऐसे असत्य का विरोध करने की प्रबल भावना रहती थी। यही उनके सत्य का तेज था। इसी सत्य ने उनसे 'कल्याण-मार्ग के पथिक' में अपने कुछ नैतिक दोषों को स्वीकार कराया है। जिसमें सत्य प्रवाहित है, जीवित है, उसे अपने दोष खटके बिना रह नहीं सकते। जब मनुष्य डंके की चोट अपने दोष, अपने अपराध कहने का साहस करता है तब सत्य का तेज ही उसमें निखरता है।

आर्यसमाज की तो सबसे बड़ी शक्ति उसकी सत्योपासना ही है। महर्षि दयानन्दजी ने जितना जोर इस सत्य की साधना पर दिया है उतना और किसी बात पर नहीं। स्वामी श्रद्धानन्दजी ने जिसे सत्य माना उसपर वे अन्त तक टिके रहे। इतिहास के यदि नहीं तो कम-से-कम वर्तमान जगत् के सबसे बड़े सत्याग्रही महात्माजी से भी उनका कई बातों में मतभेद था। किन्तु वे उनके मुकाबले में भी अपनी बात पर डटे रहते थे। यही सत्याग्रह की खूबी है। यह जरूरी नहीं कि आप जिस बात को सत्य मानें उसे मैं भी मानूँ। पर जरूरी है कि आप अपनी सच्चाई का पालन करें, मैं अपनी सच्चाई पर डटा रहूँ। फिर भी हम एक-दूसरे को समझाने का यत्न करें और जबतक दोनों का सत्य मिल न जाय तबतक दूसरे को सहन करें। स्वामीजी और महात्माजी के प्रेम और सद्भाव के अन्त तक टिके रहने का

कारण यही है कि दोनों में सत्य की साधना सर्वोपरि है। सत्य का तेज तब मलिन होने लगता है जब सत्य-साधक मूढ़ बन जाता है अर्थात् जब वह मानने लगता है कि बस जितना मैंने समझ या मान लिया है वही आखिरी बात है, अब आगे कुछ नहीं है। जो ऐसा मानता है वह दुराग्रही होने लगता है और दुराग्रही ऊपर से भले ही दृढ़ और बहादुर दिखाई दे, किन्तु अन्दर से उसका शरीर थोथा बनता चला जाता है। स्वामी श्रद्धानन्दजी अन्त तक वीर और तेजस्वी बने रहे। यह उनकी सत्योपासना का ही फल था। उनकी मृत्यु एक शहीद की मृत्यु थी। वह शान्त, प्रफुल्ल बलिदान का पाठ हमें पढ़ाती है। उनके बिना आर्यसमाज आज हतप्रभ दिखाई देता है।

उनकी पुण्य-स्मृति हमें आत्म-बलिदान की स्फूर्ति दे।

: ६ :

हमारे स्वातन्त्र्य-देव

स्वाधीनता के मतवाले राजस्थानियों के लिए महाराणा प्रताप मानो स्वातंत्र्य-देव हैं। राजस्थान आज वर्त्तमान दुहरी गुलामी के गहरे अंधेरे में से स्वाधीनता का प्रकाश पाने के लिए इधर-उधर टटोल रहा है।

महात्मा गांधी ने भारत को और भारत के द्वारा सारे संसार को महान् प्रकाश दिया है जिसे वे 'अहिंसा' कहते हैं और दुर्दमनीय बल दिया है जिसे वे 'सत्याग्रह' कहते हैं। इससे राजस्थान को प्रकाश व बल मिला है और उसने छाती तानकर खड़ा रहना सीखा है; परन्तु जब वह अपने घर में स्वतन्त्रता की किसी प्रतिमूर्त्ति को आज खोजना चाहता है तो महाराणा प्रताप एक देव-दूत की तरह उसके सामने खड़े मिलते हैं और वह उनके चरणों में अपनी श्रद्धाञ्जलि लिए गिर पड़ता है।

प्रताप का युग चाहे बदल गया हो, परन्तु उनके तप और त्याग का तेज तथा स्वतन्त्रता की स्फूर्ति आज भी ज्यों-की-त्यों जगमगा रही है और विद्युत् अक्षरों में सारे राजस्थान के वाताकाश में लिख रही है—"भूखे रहो, प्यासे रहो, अकेले रहो, जंगलों, पहाड़ों और कन्दराओं में मारे-मारे फिरो, अपना सब कुछ मिटा दो; पर जो तुमपर अत्याचार करना चाहता है, जो तुम्हारी स्वतन्त्रता छीनना चाहता है, उसका डटकर मुकाबला करो, उसके सामने कभी मत झुको।"

: ७ :

स्वर्गीय गणेशजी

१९१६ ई० की बात है। मैं 'सरस्वती' में, पूज्य द्विवेदीजी के पास आया ही था। गणेशजी का बहुत नाम सुन रक्खा था। उनका 'प्रताप' हिन्दी में अपने ढङ्ग का एक ही साप्ताहिक-पत्र था। उसकी खरी, सीधी और निडर वाणी तीर की तरह असर करती थी। जुही में कानपुर के नजदीक रहकर यह कैसे हो सकता था कि मैं गणेशजी से न मिलूं? फिर गणेशजी मुझसे पहले 'सरस्वती' की सेवा कर चुके थे। पू० द्विवेदीजी इन्हें बहुत चाहते थे और बड़ी आत्मीयता के साथ उनका नाम लिया करते थे।

× × × ×

एक टूटे-से पुराने मकान में एक-दो मित्रों के साथ गया। एक दुबला-पतला लड़का चश्मा लगाये खिलखिलाकर हँसते हुए बातें कर रहा था। उसकी प्रत्येक हलचल से फुर्ती और जिन्दादिली टपकती थी। अबतक मुझे अपने दुबलेपन पर झेंप आया करती थी। जब मैंने यह जाना कि यह लड़का गणेशशङ्करजी विद्यार्थी हैं, मुझे अपने इस ढाँचे पर नाज होने लगा। उस मुट्ठी-भर हड्डी के प्रतापी संपादक को देखकर मुझे अपनेपर इस बात का विश्वास होने लगा कि मैं भी कुछ कर सकूंगा।

प्रथम दर्शन में ही हम दोनों का हाल लौहचुम्बक का सा

हुआ। थोड़े ही समय में वे मेरे 'गृह-चिकित्सक' बन गये। महीने में दो-एक बार जुही आते और मेरी माता से पुत्र के दुलार के साथ कहते—'आज खाने के लिए क्या बनाया है ?' वे मेरे लिए बड़े भाई के सदृश हो गये थे। मेरे जीवन का कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं था, जिसमें गणेशजी की सलाह न ली जाती। मैंने मित्रों से कई बार यह कहा है कि राजस्थान में खुद जिम्मेदार बनकर स्वतन्त्र-रूप से काम करने की अपेक्षा मैं गणेशजी की मातहती में काम करना अपने लिए सौभाग्य की बात समझूंगा। वे मुझे स्वजन समझते थे। जब हम लोग मिलते थे अपने घर का सारा दुःख-सुख आपस में कह-सुन लेते थे। आज मैं अनुभव करता हूँ कि मेरे कुटुम्ब में से मेरा एक बड़ा आत्मीय बिछुड़ गया है।

× × × ×

१९१६ या १७ में मेरे दोनों छोटे भाई डबल निमोनिया से मरणान्त बीमार हुए। पू० द्विवेदीजी स्वयं अपने तत्त्वावधान में, एक पिता की चिन्ता से इलाज करा रहे थे। फिर भी एक रोज मार्तण्ड की हालत बहुत खराब हो गई। घड़ी-पल का हो रहा था। मेरे जीवन का सारा शोक एकत्र होकर मुझपर हमला कर रहा था।

अपने माता-पिता की इच्छा के खिलाफ अपनी ज़िद से मैं घर के सब लोगों को जुही ले आया था। जीवन में छोटे और होनहार भाई के चिर-वियोग का समय नज़दीक आ रहा था। मैं अपने सारे ज्ञान और विवेक को अपनी सहायता के लिए एकत्र कर रहा था। पर वे निर्बल साथी मालूम हो रहे थे। अचानक देवदूत की तरह गणेशजी आये। उन्हें देखते ही मेरी आँखों ने धीरज छोड़ दिया। मेरी इस विह्वलता पर एक गुरु की तरह उन्होंने मुझे मीठी फटकार बताई, कहा—तुमने

हासिल कर अपने ही पावों के बल 'प्रताप' जैसी महान् संस्था खड़ी की। कानपुर को राजनैतिक प्रगति की दौड़ में संयुक्त-प्रान्त में एक मजबूत केन्द्र बना दिया और अन्त को एक शहीद की भाँति मरकर अपने को अमर कर दिया। एक स्कूल-मास्टर का लड़का ४० साल के पुरुषार्थी जीवन में एक प्रान्त का नेता और हजारों के दिलों का उजाला होकर मरा।

भगवन् ऐसी मौत मरने की प्रेरणा हम सब को करे।

: ८ :

लालाजी

पूज्य लालाजी की मृत्यु के अचानक समाचार सुनकर मानो पाँवों के नीचे से धरती खिसक गई। मानो घड़ों ठंडा पानी किसीने सिर पर उँडेल दिया। हृदय से वेदना फूटी—"हा, लालाजी, हम लुट गये! बूढ़े नेताओं ने यह क्या ठान ली? भारत का मानो एक छत्र टूट गया। भारत-माता की मानो कमर टूट गई। हे ईश्वर, साइमन सप्तक को इतनी बड़ी, ऐसी पवित्र भेंट!" लालाजी की मृत्यु के सम्बन्ध में जो अधिकारयुक्त वक्तव्य उनके पुत्र और डाक्टरों की ओर से प्रकाशित हुआ है-उससे जाना जाता है कि ३० अक्तूबर को लाहौर के रेलवे स्टेशन पर गोरी पुलिस ने अपनी लाठियों से लाहौर के इस राजा का जो सत्कार किया था उसके कारण लालाजी दिन-दिन थकते जाते थे और अन्त को (१७ नवंबर के सवेरे) उनके स्वतन्त्र और मनस्वी प्राण इस पराधीन और आत्मग्लानि से परिपूर्ण भूमि से ऊबकर चल ही बसे। लाखों के जन-समुदाय ने अपनी आंसुओं की अंजुली से अपने पूज्य नेता केशव को स्मशान में अंतिम अर्घ्य दिया। पू० लालाजी के गुजर जाने से इस समय देश की जो अपार हानि हुई, उसके लिए रोते रहना लालाजी की चोट की दवा नहीं है। लालाजी की तीव्र आँखें, तनी हुई भौहों के साथ बरसती हुई चिनगारियाँ, विकल होकर देख रही हैं कि मृत्यु को खेल समझने के ज्ञान का प्रचारक यह भारत

सूखे आँसू ही बहा रहा है, या उनके रहे काम-स्वराज्य की प्राप्ति को पूरा करने में जुट पड़ा है। अरे, कर्मवीर लालाजी की अन्तिम पूजा क्या कोरे आँसुओं से होकर रह जायगी? आँसू बरसाना हो तो लालाजी की मौत पर नहीं, अपनी असहाय दशा पर बरसाओ। वीर लालाजी क्या रोने की चीज़ हैं? लाला-जी की ज्वलन्त देश-भक्ति सजीव स्वार्थत्याग, विवेकपूर्ण राष्ट्री-यता, निरलस समाज-सेवा, विशाल अनुभव, व्यापक जीवन, योद्धा की वृत्ति, ज्वलन्त स्पष्टवादिता, तीव्र समय-सूचकता, व्यावहारिक बुद्धि, अदम्य मनस्विता किन किन गुणों का स्मरण करके आज अपने हृदय को पवित्र और अनुप्राणित करें? उफ़ पंजाब के इस शेर-बबर की हुङ्कार और ललकार अब सुनने को न मिलेगी। तीर जैसे सीधे और खरे लेख अब पढ़ने को कहाँ मिलेंगे? 'पीपुल्स सोसायटी' का झण्डा अब कौन इसी लगन, इसी अकड़ और इसी जवाँमर्दी के साथ खड़ा रखेगा?

देश की नवयुवक और प्रज्वलित आत्मा इन दुःख के और कमज़ोरी के उद्गारों को सुनने और बरदाश्त करने के लिए तैयार नहीं है। वह झुँझलाकर कहा चाहती है कि लालाजी ने हमारी बढ़ती हुई स्वाधीन आकांक्षाओं के लिए केवल राज-नीति का नहीं; बल्कि इस भूमि का ही मैदान छोड़ दिया है—हमारे इस बुजुर्ग ने यदि इस दूरदर्शी और आत्म-त्याग का परिचय दिया है, तो मैं भी अपने तमाम परमाणुओं को खींच कर इस स्वाधीनता की बलिवेदी पर अपने को चढ़ाने के लिए तपती बैठी हूँ।

लालाजी की हठीली आत्मा इस कलक पर हाथ रखते हुए मूक अंगुली से इसी अकड़ के साथ संकेत करती है, कोरी बातें मत करो, काम में अपना जीवन खपा दो। 'त्यागभूमि' के हृदय के

लाला, 'त्यागभूमि' आपको श्रद्धा सहित अन्तिम प्रणाम करती है। जिस सप्ताह में हम अजमेर-वासी आपकी सिंह-गर्जना सुनने की आशा लगाए थे उसी सप्ताह यह लेखनी अपने काले खून से आपकी मृत्यु को कोस रही है, जिस संख्या का आरंभ आपके अग्रलेख से होता है उसीका अन्त आपके चिर-वियोग की वेदना में हो रहा है। उस खिलाड़ी के इन खेलों पर उसे क्या कहें! पुनः एक बार आपकी उज्ज्वल और व्याकुल आत्मा को अन्तिम प्रणाम।

: ९ :

क्या देशबन्धु मर गये ?

कौन कहता है ? देशबन्धु कहीं मर सकता है ? जिसने देश के लिए तन,मन,धन का संन्यास कर दिया वह कहीं मर सकता है ? जिसने दान के लिए कमाया वह कहीं मर सकता है ? जिसने स्वराज्य-दल के रूप में इतनी भारी स्वतन्त्रता की मतवाली सेना खड़ी कर दी, वह कहीं मर सकता है ? जिसने बङ्गाल सरकार के छक्के छुड़ा दिये, बङ्गाल में दुअमली का अंत कर दिया और इस प्रकार अपनी प्रतिज्ञा पूरी करके जो विजय और शान्ति की गोद में सो रहा है वह कहीं मर सकता है ? देशबन्धु चित्तरंजनदास उसी दिन मरेंगे जिस दिन दुनिया में त्याग मर जायगा, दान मर जायगा, देश-सेवा मर जायगी, उत्साह मर जायगा, वीरता मर जायगी । जबतक ये गुण जीवित हैं, देशबन्धु अमर हैं। देशबन्धु दास मरते हुए भी अमर हैं। जो जो इन सद्गुणों से हीन हैं वे जीते हुए भी मरे के बराबर हैं। जीता वह है जो औरों के लिए मरता है; मरता वह है जो अपने लिए जीता है। देशबन्धु क्या थे, बङ्गाल थे। देशबन्धु क्या थे, स्वराज्य के सन्देश थे। देशबन्धु क्या थे, देश-भक्ति थे। देशबन्धु क्या थे, दीन-बन्धु थे। वे क्या गये, सारे बङ्गाल को अपने साथ ले गये; स्वराज्य-दल के पिता को ले गये, भारत के एक रत्न को ले गये; स्वराज्य के एक पांव को ले गये; महात्माजी के एक भाई को ले गये; बासन्ती दास का सर्वस्व ले गये। देश-

बन्धु कुछ तो दया करते ?——

क्या रोवें ? क्या देशबन्धु रोने-योग्य थे ? रोवें उनके लिए या अपने लिए ? उनके लिए क्यों रोवें ? वे तो हमारे लिए जिये हमारे लिए मरे। जबतक जिये, सिंह की तरह जिये; जब मरे तब लाखों के मुंह से निकला—वाह, जिन्दगी हो तो ऐसी। क्या उनके लिए रोवें ? और अपने लिए भी क्यों रोवें ? वे जितना ले गये उससे अधिक हमें दे गये हैं। ले गये अपना शरीर, दे गये अपनी आत्मा, अपने सद्गुण, अपने जीवन का उत्साह, अपने मरण की स्फूर्त्ति, अपनी कृति की विरासत ! वीरों का मरण रोने-योग्य नहीं, बधाई के योग्य होता है। वासन्ती देवी ने क्या कहा—'मुझे रोना नहीं आता।' वह वीरवधू है। देशबन्धु जैसे प्रतापी क्या रुलाने के लिए पैदा हुए थे ?

दुनिया में रोने वालों के लिए जगह नहीं, रुलाने वालों के लिए जगह नहीं। दुनिया करने वालों के लिए है, करके मरने वालों के लिए है, मर के अमर हो जाने वालों के लिए है। दुनिया देशबन्धु जैसों के लिए है, रोकर जाने वालों के लिए नहीं ! आंसुओं की अञ्जुली से नहीं, प्राण की अञ्जुली से देशबन्धु का श्राद्ध हो सकता है। जिस बात के लिए वे मरे उसकी पूर्त्ति में अपना प्राण लगा दो, यही उस भव्य आत्मा का सच्चा श्राद्ध होगा। रोकर तो हम उसकी अत्मा को उलटा कष्ट पहुँचाएंगे। क्या यह रूखा-कोरा तत्वज्ञान नहीं ? पोथियों में रहने वाला आश्वासन नहीं ? क्या ये शब्द लेखनी ने अपने काले आंसुओं से नहीं लिखे हैं ? हमारे आंसू शोक के आंसू अवश्य हैं, पर कमजोरी के आंसू नहीं हैं, वियोग के आंसू अवश्य हैं, पर निराशा के आंसू नहीं हैं। प्रेम के अथवा स्वार्थ के आंसू अवश्य हैं, पर कर्त्तव्यशून्यता के आंसू नहीं हैं। हमारे आंसू देशबन्धु के वियोग की घबराहट नहीं, उनकी महत्ता की स्वीकृति है।

ये विस्मृति के नहीं, स्मृति के आंसू हैं। ये पानी के आंसू नहीं, हमारे हृदय के पारे के आंसू हैं। ये हमारे कलेजे के हीरे हैं; हमने अपना हृदय देशबन्धु के चरणों पर चढ़ा दिया है उनके ये सबूत हैं! हमी नहीं सारा भारत, भारत की सारी प्रकृति, आज आंसू बहा रही है।

महायात्रा का आनन्द या तो लोकमान्य ने लूटा था या देश-बन्धु ने लूटा! धन्य है वासन्ती देवी जो देश-बन्धु की महायात्रा को देखने के लिये जीवित रहीं। स्वयं देश-बन्धु भी हिन्दू, मुसलमान, अंग्रेज, पारसी आदि सब जातियों और पंथों के उस आदर्श-प्रदर्शन को देखकर अभिमान करने लगते। फरीदपुर वाले भाषण ने राजनैतिक दृष्टि से देशबन्धु की मृत्यु को कुछ अंशों में लोकमान्य की मृत्यु से बढ़ा दिया। वाइसराय और भारत-मन्त्री तक ने देशबन्धु की मृत्यु पर शोक-सन्देश भेजे। योरोपियन-समाज भी शोक-प्रदर्शन में दिल खोलकर शरीक हुआ। लोकमान्य की मृत्यु स्वराज्य की स्फूर्ति देकर गई। देशबन्धु की मृत्यु स्वराज्य के लिए एकता का, ग्राम-संगठन का, सन्देश देते हुए गई।

लोकमान्य की मृत्यु भारतीय थी, देशबन्धु की मृत्यु राष्ट्रीय हुई। लोकमान्य की मृत्यु में शोक अधिक था, चिन्ता कम थी; देशबन्धु की मृत्यु में शोक कम चिन्ता अधिक है। लोकमान्य की मृत्यु के समय हम लड़ाई के आरम्भ में थे; देशबन्धु की मृत्यु के समय हम लड़ाई के मध्य में पहुँचकर हार गये हैं। हमारी सेना तितर-बितर हो गई है, इसलिए आगे का रास्ता स्वच्छ दिखाई देते हुए भी वह आरम्भ से अधिक कठिन और दुर्गम मालूम होता है। परमात्मा को धन्यवाद है कि लोकमान्य के समय भी महात्माजी हमारे मध्य में थे, आज देशबन्धु के समय भी हमारे आंसू पोंछने के लिए वे मौजूद हैं। उनतक वे

मौजूद हैं तबतक हमारे लिए लोकमान्य और देशबन्धु दोनों मौजूद हैं, तबतक हमें दोनों के मातम मनाने का अधिकार नहीं है, तबतक हमें महात्माजी के प्रति उनके इस महान वियोग और गुरुता पर सहानुभूति होनी चाहिये और उन्हें हमारी तरफ से हर तरह की सहायता मिलनी चाहिये। यही देशबन्धु के प्रति हमारा व्यावहारिक कर्तव्य-पालन होगा। हमारी सच्ची जलांजली होगी। यद्यपि धारा सभा-प्रवेश के सम्बन्ध में महात्माजी का मतभेद देशबन्धु से था, उनके स्वर्गवास के कारण महात्माजी ने उनके झंडे को भी उठा लिया है और अब शायद दोनों के कार्यक्रम में कोई कहने-लायक अन्तर न रह जायगा। ऐसी हालत में लोकमान्य की मृत्यु के बाद जिस तरह स्वराज्य का झंडा हाथ में ले लेने पर सारे देश की नजर महात्माजी पर टिक रही थी उसी तरह आज भी देशबन्धु के वियोग से व्यथित आंखें उन्हीं-में अपने आश्वासन को देख रही हैं। परमात्मा बूढ़े भारत की इस जीर्ण लकुटी की लाज रखना !

: १० :

आश्रम के विष्णु

खादी-केन्द्रों की यात्रा से लौटकर ज्योंही मैंने 'हिन्दी नवजीवन' उठाया तो 'मेरे सर्वश्रेष्ठ साथी से मेरा वियोग' इस शीर्षक पर और साथ ही नीचे मगनलाल भाई के चित्र पर नजर पड़ी। मुझे सहसा विश्वास नहीं हुआ। एक-दो बार पहला पैराग्राफ पढ़ने पर भी ऐसा मालूम हुआ मानो मैं स्वयं होश में नहीं हूँ। अन्त को महात्माजी के इस वाक्य ने तो कि...... विधवा की सिसक सुन रहा हूँ; पर उस बेचारी को क्या पता कि उससे अधिक विधवा—अनाथ—मैं हो गया हूँ। इस महाशोक ने तो हृदय को विकल कर दिया। मेरा आज ७ वर्षों से मगनलाल भाई का सम्बन्ध है। मैं अपने को उन सौभाग्यशाली आश्रमवासियों में मानता हूँ जो मगनलाल भाई की दृष्टि अपनी ओर आकर्षित कर सके हैं। मैंने उनके जीवन को अध्ययन करने का भी प्रयत्न किया है; और मैं कह सकता हूँ कि आश्रम के ब्रह्मा चाहे महात्माजी हों; पर विष्णु तो मगनलाल भाई ही थे। उन्हें हर कर ईश्वर ने महात्माजी की एक पंख काट डाली है; आश्रम के प्राण हरण कर लिए हैं; खादी का विश्वकर्मा छीन लिया है, और ले लिया है भारत का एक मौन तपस्वी, जिसने चुपचाप स्वीकृत कार्यों में अपने को खपा देना अपना धर्म समझा था। यह दुःख हमारा और सारे भारत का दुःख है और मगनलाल भाई के पवित्र जीवन

से बोध ग्रहण करके हम अपने जीवनों को बनाने का उद्योग करेंगे और इस तरह अपनी अल्प-शक्ति के अनुसार मगनलाल भाई की जो कमी आज पड़ गई है, उसकी पूर्त्ति का कुछ प्रयत्न करेंगे। यही हमारी आकाँक्षा है।

मगनभाई जीवित हैं

'यं० इं०' व 'नवजीवन' में महात्माजी के हृदय-विदारक महाशोक और महादेवभाई के विलाप को पढ़कर भी अवतक मुझे विश्वास नहीं होता कि मगनलाल भाई हम लोगों को दगा देकर चल बसे। महात्माजी की उस मूर्च्छा के दिन, जब कि तमाम लोगों के चेहरे मुरझा गये थे, एक मगललालभाई ही थे जिनका खिला हुआ चेहरा अपनी तेजस्वी आँखों से एकटक महात्माजी के चेहरे को निरखता हुआ पाँवों में सोंठ मलवा रहा था। वह चित्र मेरी आँखों के सामने ज्यों-का-त्यों खड़ा है। अब मैं कैसे मानूँ कि मगनलालभाई दुनिया में नहीं हैं? मगनभाई तो उस दिन मरेंगे जिस दिन सारा आश्रम उजड़ जायगा, नेस्तनाबूद हो जायगा और खादी नाम की कोई चीज भारत में न रह जायगी। जबतक आश्रम की मिट्टी आश्रम की हद में मौजूद है, जबतक खादी का नाम भी सुनाई देता रहेगा तबतक किसका सामर्थ्य है जो मगनलालभाई को जीवित न रहने दे? उनका पाञ्चभौतिक शरीर न रहने पर भी उनके पवित्र कार्य तो हमें स्फूर्त्ति देने के लिए, राह दिखाने के लिए और उनकी अमर आत्मा हमें आशीर्वाद देने के लिए, हमपर अपनी छाया करने के लिए सदा हमारे सामने ही है। और जबतक हमारा यह विश्वास है तब तकहम क्यों मानें कि मगनलालभाई हमसे दूर हैं? मनुष्य का सच्चा जीवन तो उस के कार्य हैं। उनका स्मरण व अनुकरण ही उनके व अपने

जीवन को अमर बनाने की कुञ्जी है। यदि हम सचमुच ऐसा करें तो इससे बढ़कर आश्वासन इस समय हमारी ओर से पूज्य महात्माजी को और मगनलालभाई के दुःखी परिवार को और क्या दे सकते हैं ? और मगनभाई के लिए तो ईश्वर से प्रार्थना करने की हमें आवश्यकता ही क्या है ? वे तो हमारी ऐसी प्रार्थनाओं के पहले ही अपने हक के बल पर परलोक में किसी आश्रम के अधिष्ठाता बन गये होंगे !

: ११ :

मालवीयजी महाराज

मेरी उम्र १३-१४ साल की होगी। डा० रासविहारी घोष के सभापतित्व में सूरत कांग्रेस होने जा रही थी। उस समय पहली बार मैंने पूज्य मालवीयजी का नाम सुना। मुझे बड़े अभिमान के साथ आश्चर्य हुआ। मालवीय! और देश का इतना बड़ा नेता! उन दिनों मालवा बहुत ही पिछड़ा हुआ था। मैं चौथे नम्बर की गुलामी में—रह रहा था। स्वप्न में भी मैं यह ख्याल नहीं कर सकता था कि इस दबे-गिरे मालवे का एक ब्राह्मण भारत का एक शिरोमणि हो सकता है। मेरे उछलते हुए हृदय ने मन-ही-मन मालवीयजी की कल्पित मूर्ति को प्रणाम किया। मन में अपने 'मालवी' होने का गौरव अनुभव करने लगा। मैं उन दिनों लोकमान्य का भक्त व पुजारी था। 'लाल-बाल-पाल' यह त्रिमूर्ति हम युवकों के लिए इष्टदेव जैसी बन गई थी। मालवीयजी की गिनती उन दिनों नरम दल में होती थी। अतः यद्यपि मेरा राष्ट्रीय हृदय लोकमान्य के अर्पित था, तथापि मालवीयजी तो मुझे अपनी सारी मालव-संस्कृति के राजा जैसे लगते थे।

× × ×

१६११ में मैं काशी पढ़ने गया। हिन्दू कालेज के हाईस्कूल में भरती हुआ। वहाँ सब विद्यार्थी पहले प्रार्थना भवन में इकट्ठे होकर प्रार्थना करते थे, फिर अपने-अपने दर्जों में जाते थे। एक रोज हमने सुना कि मालवीयजी किसी मेहमान के साथ

प्रार्थना के समय आयेंगे। तब से एक-एक मिनट पहर की तरह बीतने लगा। तालियों की गड़गड़ाहट के बीच वे पधारे। सिर पर वही सफेद साफा, गले में लटकता हुआ दुपट्टा, मटियाई रंग का अंगरखा व पाजामा, ललाट पर चन्दन का बिन्दु, ऐसा प्रतीत होता था मानो २०वीं सदी का हिन्दुत्व मूर्तिमान होकर आया हो। उनकी वाग्धारा गंगा के प्रवाह की तरह बह रही थी। मेरी इच्छा उनके चरण छूने की हुई। पर स्कूल के कायदे से हमारे वर्ग के लड़के प्रा०-भवन से तब निकले जब वे दूसरे दरवाजे से जा चुके थे। यह मुझे उनके प्रथम दर्शन थे।

× × ×

इसके बाद दूर-दूर से कई बार उनके दर्शन हुए। पर अति-निकट से उन्हें देखने व साथ रहने का मौका आबू में मिला। 'मालवी' शब्द मुझे बहुत प्यारा है। बचपन के बाद मेरा सारा जीवन प्रायः मालवे के बाहर ही बीता व बीत रहा है। अतः जहाँ कहीं कोई 'मालवी' मिल जाता है तो मुझे वह आत्मीय-सा जान पड़ता है और उनसे 'मालवी' बोली में बोलने लगता हूँ। उसके सामने हिन्दी बोलना बड़ा अशिष्ट, बनावटी अस्वाभाविक लगता है। ऐसा मालूम होने लगता है मानो हम परदेशी हों। जब मैंने लेख व कविता लिखना शुरू किया था तो मन में आया कि सिर्फ 'मालवीय' नाम दिया करूँ। पूरा नाम देने में झेंप-सी लगती थी। ख्याल होता था कौन-सा बड़ा काम किया है, या बड़े आदमी हैं जो अपना नाम दिया जाय। लेकिन एक दूसरा ख्याल भी आया। यह तो 'मालवीयजी' के नाम पर बिकना हुआ। 'मालवीय' अब एक प्रान्तवाचक नाम नहीं रह गया, वह अपना स्वतन्त्र माहात्म्य रखता है। मैं उसके योग्य नहीं। मुझे सदा से दूसरों के नाम पर बिकने में अरुचि रही है। इससे मनुष्य का विकास रुकता है व पुरुषार्थ कुण्ठित होता

है। अतः मैंने कविता के लिए 'मालव मयूर' व लेखों के लिए 'भारत भक्त' नाम चुना था। इससे जाना ज्ञाता है कि यह नाम मेरे लिए कितना आदरणीय व पवित्र था। अतः खुद इस नाम के देवता के साथ एक ही मकान में रहने का अवसर आबू में मिला तो मैं अपने को खोया-सा अनुभव करने लगा। इसके पहले १९२१ में ही मैं पूज्य बापू के चरणों में पहुँच चुका था—सत्याग्रहाश्रम साबरमती में रहकर उनके 'हिन्दी नवजीवन' का काम करता था; उनके तपस्वी जीवन को नित्य निहारता था, तो भी मालवीयजी के सरल-सादे जीवन ने मुझे बहुत प्रभावित व आकर्षित किया। और यदि मैंने अपने को महात्माजी के अर्पित न कर दिया होता तो मैं अवश्य मालवीयजी की सेवा में चला गया होता। उन्होंने आबू में मेरे सामने ऐसा प्रस्ताव भी रखा था। यह १९२२-२३ की बात है। श्रद्धेय जमनालालजी के साथ हम लोग श्रीराम मन्दिर आबू में ठहरे हुए थे। वहीं मालवीयजी व बिड़लाजी दो-तीन दिन के लिए आये व रहे थे। मालवीयजी अपनी जाति के ब्राह्मण के हाथ का पकाया भोजन करते थे, यह तो मैं जानता था; परन्तु उनके भोजन, व भोजन-विधि में मैंने जितनी सादगी देखी उसके लिए मैं बिलकुल तैयार न था। एक थाली में दाल और रोटी साथ ही परोसी हुई थी व दूध का एक कटोरा। दाल के लिए थाली कुछ टेढ़ी कर ली गई थी। साग भी शायद थाली में ही था। ठीक वही तरीका जो एक मामूली ब्राह्मण के घर में देखा जाता है! उससे ठीक उल्टा सिलसिला था लाला श्रीरामजी का जो इनके साथ आये थे और उर्दू के बड़े ऊंचे दर्जे के कवि या लेखक माने जाते थे। बहुत कर के देहली के रहने वाले थे। उनकी थाली के आसपास जब-तब २५-३० कटोरियां न हों तो उनका पेट नहीं भरता था। जमनालालजी को बड़ी फिक्र पड़ी कि कैसे उनका थाल सजाया जाय। आखिर

८-१० तरह की चीजें अपने रसोइये से बनवाई व कुछ होटल से मंगवाकर उनकी कटोरियां पूरी की गईं। वे खाते ज्यादा नहीं थे। कटोरियां थाल के आसपास दीखनी चाहिए थीं!

फिर मालवीयजी महाराज एक रेशमी धोती पहने थे; आधी पहने थे, व उसीको आधी ओढ़े हुए थे। बड़े-बड़े राजा-रईस व लखपति-करोड़पति जिसके चरण छूते थे, जिसकी मांग पर लाखों रुपया देते थे, वह उस वैभव से कितना अछूता, कितना सादा—एक अकिंचन ब्राह्मण! नेता मालवीय की राजनीति तब भी मुझे अपने हृदय से दूर लगती थी। परन्तु ब्राह्मण मालवीय की इस आडम्बरहीनता ने मुझपर लौह-चुम्बक का काम किया। कोई समय ऐसा नहीं गया जब मालवीयजी की याद आई हो व यह चित्र मेरी आंखों के सामने न आ गया हो।

इसी समय एक सन्यासी धर्म व वेदान्त पर उनसे चर्चा करने आ गये। संस्कृत में वार्तालाप शुरू हुआ। धीरे-धीरे सन्यासी उत्तेजित होने लगा। तेजी व कुछ क्रोध से चेहरा लाल होने लगा। मालवीयजी पर आक्षेप भी करता जाता था, पर वे बड़ी शान्ति व प्रसन्न मुद्रा से उसको जवाब देते जाते थे। आखिर में तो मालवीयजी ने उसे इस बात का उलाहना भी दिया जिससे वह लज्जित होकर चला गया।

× × × ×

हिन्दू-मुस्लिम एकता की चेष्टा हो रही थी। समझौते का एक नुस्खा निकला था। मैं उस समय कलकत्ते में था। श्री जुगलकिशोरजी बिड़ला ने एक पैगाम देकर मालवीयजी महाराज के पास काशी भेजा। उस समय विश्वविद्यालय में एक विश्वनाथ मन्दिर बनाने का वे आयोजन कर रहे थे। जब मैं पहुँचा तो मन्दिर का नक्शा हाथ में लिए हुए थे। जाते ही पहले तो कोई पौन घण्टे तक मुझे इस मन्दिर की आवश्यकता

व उसकी रूप-रेखा के बारे में समझाते रहे। मुझे तब भी वह आवश्यक नहीं लगता था, अब भी नहीं लग रहा है, परन्तु वे उसमें इतने तल्लीन थे; इतने प्रेम, इतनी भावुकता, मधुरता व रस के साथ उसकी सब बातें मुझे बताने लगे कि मैं चाव से उनकी बातें सुनने लगा। मेरी उदासीनता जहां-की-तहां रखी रह गई। मनुष्य को मोह लेने की उनकी शक्ति का परिचय उनके नजदीक जाकर किसे नहीं हुआ?

× × × ×

मालवीयजी राष्ट्रीय हिन्दुत्व के आधार, हिन्दू-धर्म के जागरूक अभिमानी, कांग्रेस के बीते युग के महान् नेता, सेवा व सादगी की प्रति-मूर्त्ति, राष्ट्र-निर्माण के महानस्तम्भ और आर्य-संस्कृति के नमूना थे। ब्राह्मण का ज्ञान व तेज दोनों उनमें जागृत था। हिन्दू-विश्वविद्यालय को उनके मानवी आदर्श का नमूना कहना चाहिए। उनके जाने से वाग्माधुरी विधवा हो गई। वे पुराने को संभालते हुए नए की कद्र करते थे। प्राचीनता व नवीनता के सन्धि-स्थल थे। उनके जीवन के साथ भारत की प्राचीन संस्कृति का एक युग समाप्त होता है। उनको खोकर भारत ने अपने घर का एक बड़ा-बूढ़ा खोया है। उनके अनेक सद्गुण व अनेक सत्कार्य जो हमें विरासत के रूप में मिले हैं, उन्हें बढ़ाकर हम उनके सही उत्तराधिकारी बनें। उनके जाने से हमारी जिम्मेदारियां बढ़ी हैं, हम उन्हें योग्यतापूर्वक संभालने वाले साबित हों।

: १२ :

जमनालालजी

स्वर्गीय जमनालालजी एक लोक-नेता थे, जबरदस्त संगठन-कर्ता थे, समाज-सुधारक थे; इन सब योग्यताओं का मूल यह था कि वे एक व्यक्ति थे, साधक थे और इसी तरह प्रेम की मूर्ति थे। भक्त में व्याकुलता चाहिए, साधक में नियमनिष्ठा और प्रेमी में प्रेम-पात्र के लिए सर्वस्व बलिदान की तैयारी। वे भक्त थे भारत-माता के, साधक थे जीवन के, प्रेमी थे मानव-जाति के। उन्होंने अपने जीवन में जो सुयश प्राप्त किया उसकी कुंजी मुझे इस त्रिपुटी में दिखाई दी। जिसने देश को पकड़ा, लेकिन अपने जीवन को छोड़ दिया वह मानो बालू पर महल खड़ा कर रहा था। जिसने अपने जीवन को साधना चाहा पर मानव-जाति को बिसार दिया मानो जीवन का ओर-छोर ही उसके हाथ न आया।

जो जमनालालजी को स्मरण करना चाहते हैं उन्हें उनके इन गुणों और योग्यताओं को प्राप्त करने का संकल्प करना चाहिए। जो जमनालालजी की आत्मा को शान्ति देना चाहते हैं उन्हें उनके अवशिष्ट कामों को पूरा करने में अपना समय व शक्ति लगाना चाहिए। जो विशेष व्यक्ति होते हैं उन्हें काम प्यारा होता है, कोरी भक्ति स्तुति नहीं। हम राजस्थानियों पर जिनके उत्थान के लिए उनसे अधिक व्याकुलता किसीने अबतक नहीं दिखाई थी उनके आदर्श पर चलते हुए उनके अधूरे कामों को पूर्ति की

सबसे अधिक जिम्मेवारी है।

जमनालालजी के जीवन में प्रेम-भाव ओत-प्रोत मिलता है। यह उनकी सर्वप्रियता का मूल कारण है। प्रेम व अहिंसा एक ही वस्तु है। अहिंसा निषेधात्मक शब्द है प्रेम भावात्मक शब्द है। अहिंसा में हिंसा से दूर रहा जाता है, प्रेम में आत्मदान बलिदान किया जाता है। प्रेमभावी में कटुता और द्वेष के लिए स्थान नहीं रह सकता। जिस प्रेम में ये दोष पाये जावें वह निचली सतह का, ओछा व गंदा होगा। उसमें स्वार्थ, अहंकार पद-प्रतिष्ठा की चाह, ये विकार अवश्य दिखाई देंगे। जमनालाल-जी जीवन भर इन विकारों से झगड़ते रहे। अतः उनके प्रशंसकों को भी अपने जीवन में व्यक्तिगत द्वेष, व कटुता के बीज नष्ट करने व अपने हृदय की शुद्ध भावना को जनता-जनार्दन की सेवा में लगा देने का प्रण कर लेना चाहिए। व्यक्तिगत जीवन-विकास और सामाजिक संगठन दोनों का इससे बढ़कर शत्रु नहीं है।

जमनालालजी के श्रेयार्थी-जीवन की उपमा वट-वृक्ष से दी जा सकती है। राई के बराबर बीज में से समय पाकर कितना बड़ा विशाल कबीर बड़* बन गया है कि जिसके नीचे हजारों बटोही विश्राम पाते हैं। उनका जन्म काशी का वास जैसे एक न-कुछ गांव में और कनीरामजी जैसे साधारण गृहस्थ के यहाँ हुआ। उनकी मृत्यु गान्धीजी जैसे विश्वव्यापी महापुरुष की गोद में हुई। बीच में जाजूजी से लेकर लोकमान्य तिलक, महामना मालवीयजी, गुरुदेव, रमण महर्षि, जगदीशचन्द्र बसु, काका साहब, किशोरलाल भाई, विनोबा जैसे नेताओं महापुरुषों और सन्तों से अपने लिए जीवन-रस खींचा अनेक संस्थाओं के

---

* शुक्ल तीर्थ नर्मदा के टापू में स्थित महान् वट-वृक्ष।

द्वारा अनेक रूप में अनेक खेल खेले। वैश्यर्षि से राजर्षि हुए और राजर्षि से अन्त में ब्रह्मर्षि के मार्ग पर काफी दूर तक चल चुके थे। व्यापार-धन्धा छोड़कर राजनीति में पड़े व अन्तिम समय में उसे भी नमस्कार करके गो-सेवा के रूप में जीवमात्र की सेवा की आत्मिक साधना में लगे। क्योंकि राजनीति के प्रपञ्चों में उनका विश्वास नहीं था। राजनीति को भी उन्होंने अपने नैतिक जीवन की शुद्धता का सहारा बनाया था। यह उनके मुमुक्षु जीवन का उत्तरोत्तर विकास है। गांधीजी को छोड़ दें तो इस प्रकार का सतत जाग्रत विकास कुछ भिन्न प्रकार और दिशा में क्यों न हो, जवाहरलालजी में ही दिखाई पड़ता है। उनका पुरुषार्थी जीवन आशा खो बैठने वालों के लिए दीपस्तंभ और एक जीती-जागती ललकार था।

मोक्षमार्ग पर चलते हुए भी जमनालालजी सेवामय, त्यागमय जीवन में ब्रह्मानन्द मानते थे। बार-बार जन्म लेने से डरते-घबराते नहीं थे। यदि उसके द्वारा उन्हें यह सान्त्वना मिलती हो—

"दुनियाँ के दुख की ज्वाला में
बस मेरा विश्राम रहे।"

'मेरे विचार व सन्देश' में वे लिखते हैं—"मुझे पूर्ण विश्वास है कि निस्वार्थ भाव से जन-सेवा करते रहने से ही शीघ्र मोक्ष-प्राप्त हो सकती है। अगर कोई मुझे यह कहे कि इस तरह देश सेवा करने वालों को शतजन्म में ही नहीं कई जन्मों के बाद मोक्ष-प्राप्ति होगी तो भी मुझे कोई चिन्ता नहीं होगी। एक प्रकार से आनन्द ही होता है। पवित्रता के साथ जन-सेवा करते-करते कई जन्म भी हो जायें तो क्या फिक्र!" अतः मुझे विश्वास होता है कि यदि ये सचमुच मर गये हैं तो अवश्य उनका पुनर्जन्म हो गया है, एक शरीर में नहीं अनेक शरीर में।

जीते जी जुगनू था तो अब
जीवित जाग्रत ज्योति महान।
एक मिटा, हो अब अनेक तू
व्याकुल भक्तों का भगवान् !

: १३ :

गुरुदेव के दर्शन

प्रयाग का एक सभाभवन। १९१४-१५ में आपको चलना होगा। खचाखच भीड़। नंगी खोपड़ियों का ताँता। सब के चेहरों पर कृतज्ञता व आत्म-सम्मान का गौरव। एक गैलरी में मैंने अपने को खोया हुआ पाया। मैं मैट्रिक में पढ़ता था। उत्सुकता झुंझलाने लगी। प्रतीक्षा थकने लगी। एकाएक नीचे वालों की निगाह दरवाजे की ओर गई। कोसे की धोती, कोसे का लम्बा कुरता, ऊपर कोसे की ही चादर पड़ी—एक शान्त, भव्य, प्रसन्न मूर्ति आती दिखाई दी। विशाल आँखें, उन्नत ललाट, शानदार दाढ़ी, खुला सिर। बीसवीं सदी में यह उपनिषद् काल का ऋषि ही तो भूलकर नहीं आ गया! वाल्मीकि की प्रतिमूर्ति ही तो नहीं है? सबने उन्हें आदरपूर्वक प्रणाम किया। वे मृदुल गंभीर स्वर में बोले। मैं न सुन सका, न समझ सका। पर उस दृश्य को देख गद्गद् हो गया। जिन्होंने भारतवर्ष का नाम बढ़ाया, दुनिया ने जिसके कवित्व की दाद दी, भारतीय संस्कृति जिसके रोम-रोम से बोल रही थी, ऐसे महान् व्यक्ति के दर्शन से मैंने अपने को कृतार्थ माना। 'गुरुदेव' के ये प्रथम दर्शन थे। उस समय शायद वे पहले ही भारतवासी थे जिन्होंने संसारवासियों के मन में अपने लिए मान का स्थान प्राप्त किया।

× × ×

इसके बाद उनके प्रत्यक्ष व नजदीक से दर्शन तथा वार्तालाप

का सौभाग्य ४-५ साल पहले मिला जब कि मैं बोलपुर के हिन्दी वाचनालय के उद्घाटन के लिए बुलाया गया था। उसके पहले तक गुरुदेव के दर्शन उनके ग्रन्थों द्वारा करता रहा। मुझे याद है, अपने विद्यार्थी-जीवन में ही मैंने उनके 'गोरा', 'नौका डूबी', 'आँखों की किरकिरी', 'गीतांजलि' आदि पढ़े थे। उस समय इतनी योग्यता तो नहीं थी कि तमाम खूबियों को समझ सकता, पर इतना अवश्य याद है कि और उपन्यासों से इनमें कुछ विशेषता थी—वे मन पर एक उच्च संस्कृति व उदारता की छाप छोड़ते थे। ऐसा लगता था मानो आत्मा को कुछ भोजन मिल रहा है। कुछ नई चीज पा रहे हैं।

× × ×

अब एक ऐसा युग आता है जब गुरुदेव के प्रति मन में कुछ अरुचि, कुछ अश्रद्धा, कुछ विरक्ति का भाव होता है। यह १९२२-२३ की बात है। मैं साबरमती-आश्रम में था। महात्माजी ने विदेशी कपड़ों की होलियां जलवाई थीं। एण्ड्रूज़ साहब ने उस-पर एतराज़ किया था। गुरुदेव को इस बहिष्कार में असहिष्णुता, एकांगिता, संकुचितता दिखाई दी। उनकी विशालता, उदारता, मृदुलता व आर्यता को इस उग्र बहिष्कार से ठेस-सी लगी थी। उन्हें इसमें 'हिंसा' 'द्वेष' की गंध आती थी तो महात्माजी को गुलामी के कीड़ों से लदे इन विदेशी वस्त्रों की होली में 'स्वराज्य' के दर्शन होते थे। उनके उद्गारों व रचनाओं में वह अभिव्यक्ति हुई। 'माडर्न रिव्यू' में उन्होंने महात्माजी के इस आन्दोलन के विरोध में एक लेख लिखा, जिसका जवाब महात्माजी ने 'दि ग्रेट सेंटिनेल' के नाम से 'यं० इं०' में दिया। मुझे 'हिन्दी नवजीवन' के लिए उसका अनुवाद करना पड़ा था। इन्हीं दिनों 'मुक्त-धारा' नामक गुरुदेव का एक रूपक प्रकाशित हुआ। हम युगधर्म के उपासकों को, वन्दिनी-माता की बेड़ियों को एक झटके में तोड़

टालने के लिए अधीर युवकों को, महात्माजी के तेज और प्रताप के वातावरण में रहने वाले सत्याग्रह के सैनिकों को, 'गुरुदेव' की यह आवाज 'बेसुरी' मालूम हुई। हमें लगा—गुरुदेव भटक गए हैं, युग-प्रवृत्ति से दूर पड़ गए हैं, स्वराज्य आन्दोलन की धारा में पिछड़ गए हैं। गुरुदेव व महात्माजी का यह वाग्युद्ध हमें अरुचिकर मालूम हुआ। हमारे व्याकुल हृदय चाहते थे कि गुरुदेव महात्माजी का साथ दें, अपने सहयोग से उनकी शक्ति बढ़ावें। इसके विपरीत उन्होंने 'एकला चलो रे' का अनुसरण किया। हमें गुरुदेव व महात्माजी में 'कवि' व 'कर्मी' का भेद दिखाई देने लगा। मैं उन दिनों कहा करता था आश्रम—साबरमती—में 'तप', शान्ति निकेतन में 'कला' व गुरुकुल—काँगड़ी—में 'विद्या' है।

× × ×

फिर १९३२ में अत्यन्त हृदयस्पर्शी दृश्य आता है। महात्माजी ने हरिजनों के मताधिकार के सम्बन्ध में उपवास किया था। वृद्ध कवि अपनी आशीष लेकर पूना जेल में पहुँचे। ऋषि व तपस्वी का—वाल्मीकि व वसिष्ठ का वह स्वर्गीय मिलन था। गुरुदेव ने प्रार्थना के रूप में अपना बंगला गीत गाया। महात्माजी ने अश्रु गद्गद् हो उनका चरणस्पर्श करते हुए कहा—गुरुदेव से बड़ा यहां कौन है जिसका चरण स्पर्श करके मैं उपवास छोड़ूं? जब यह समाचार मैंने पढ़ा तो सहसा मुख से निकल पड़ा—गुणी गुणं वेत्ति न वेत्ति निर्गुणः, बली बलं वेत्ति न वेत्ति निर्बलः। मुझे लगा, साधना ने सरस्वती को सिर नवाया व सरस्वती ने मुक्तकण्ठ से साधना को श्रेय व सिद्धि की आशीष दी। मुझे रोमां रोलां का यह वाक्य याद आया—'गांधी व रवीन्द्र एक हिमालय की गोद से निकलकर पूर्व और पश्चिम की ओर बहने वाली गंगा और सिन्धु के सदृश दो महान् धाराएं हैं।' मेरे

हृदय ने कहा—रवीन्द्र व गांधी संसार को आर्य-संस्कृति की दो महान् देन हैं। एक में उसके हृदय की सुकुमारता व दूसरे में उसकी आत्मा की तेजस्विता चमकती है। दोनों इतने महान् हैं कि हम जैसों की स्थिति कवीर की तरह हो जाती है—'गुरु-गोविन्द दोनों खड़े काके लागूँ पायँ ?' अपनी उस अरुचि व अश्रद्धा पर मन-ही-मन बड़ी ग्लानि होने लगी। छोटे पैमानों से महापुरुषों को नापना कैसा 'अव्यापारेषु व्यापार' है, इसकी यथार्थ प्रतीति हुई।

× × ×

अब शान्ति-निकेतन के दर्शन व गुरुदेव के श्रीमुख से कुछ उपदेश सुनने का समय आता है। मेरा जीवन राजस्थान की सेवा के लिए अर्पित है। उस सेवा के निमित्त ही कहीं आता-जाता हूँ। कलकत्ते में जब-जब गया, इच्छा हुई कि शान्ति-निकेतन देखूँ, परन्तु यही विचार मन में आया कि राजस्थान की सेवा से उसका क्या सम्बन्ध ? हनुमान की वह एकनिष्ठा मुझे अच्छी लगती है,जिसमें उन्होंने राम के दिए कण्ठहार की तमाम हीरक-मणियों को फोड़-फोड़ कर देखा कि इनमें कहीं राम हैं? और राम न मिलने पर बहुमूल्य मणियों को कंकड़-पत्थर की तरह फेंक दिया। एक बार कलकत्ते के राजस्थानी मित्र भाई सीतारामजी सेकसरिया या बसन्तलालजी मुरारका में से किसीने मुझसे कहा—बोलपुर के हिन्दी वाचनालय के उद्घाटन के लिए मुझे बुलाया गया है, अच्छा हो कि आप चले जायें। इस निमित्त शान्ति-निकेतन व गुरुदेव के दर्शन हो जाने के प्रलोभन ने मुझे वहां भेज दिया। पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने गुरुदेव के दर्शन की व्यवस्था कराई व उत्तरायण के समीप मुक्त-गगन में गुरुदेव ने हमें दर्शन दिये। शान्ति-निकेतन की सारी शान्ति और श्री गुरुदेव में केन्द्रित हो रही थी। सादा सफेद चोग़ा उनके

शरीर को ढके हुए था। उसीके सदृश सिर और दाढ़ी के सफेद बाल उनके अन्तःकरण की स्वच्छ शुभ्रता का मानो प्रतिनिधित्व कर रहे थे। मैंने निवेदन किया कि हम राजस्थान की श्रद्धा लेकर इस तीर्थ में गुरुदेव से कुछ पाने के लिए आये हैं। उन्होंने हरिजन और हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य के सम्बन्ध में हमें उपदेश दिया, जिसमें इस पीड़ित मानवता के प्रति उनकी गहरी वेदना और राष्ट्रीय ऐक्य के लिए उनकी तीव्र चिन्ता प्रकट होती थी। शान्ति-निकेतन में हमें ऐसा लगा मानो हम बटोही एक विशाल वट-वृक्ष की सघन छाया में विश्राम कर रहे हों। लगभग आध घण्टे के अमृत-पान के बाद गुरुदेव के चरण छूकर हम विदा हुए। आज भी गुरुदेव की वह भव्य मूर्ति कई बार आँखों के सामने आ-आ जाती है और भूल जाता हूँ कि अब गुरुदेव इस धाम के नहीं रहे। वे जितना प्रेमादर हमसे ले गए उससे कहीं अधिक आशीर्वाद की वस्तुएँ हमारे लिए छोड़ गए हैं। क्या हम उनके पात्र साबित होंगे।

गुरुदेव आत्मा, सौन्दर्य व संस्कृति के कवि थे। वे केवल कल्पना जगत् में नहीं उड़ते थे। अपने आदर्शों को भूतल पर उतारने का उन्होंने जी-जान से प्रयत्न किया है। विश्वभारती के द्वारा उन्होंने कवि व कर्मी का मेल संसार को दिखाया है।

उनकी प्रतिभा और उनके जीवन का विकास सभी दिशाओं में हुआ था। कविता, नाटक, उपन्यास, कहानियाँ, निबन्ध-प्रबन्ध सब में उनकी प्रतिभा चमकी है। अपनी जमींदारी के प्रबन्धक, श्री-निकेतन तथा विश्वभारती के संचालक के रूप में उनके जीवन ने अपना जौहर दिखाया है।

वे कलामूर्ति थे। शब्द-साहित्य के तो सम्राट थे ही। संगीत, नृत्य, चित्र-कला भी उनमें व उनके आश्रम में पली-पनपी है। मृदुलता उनकी कला का कोमल प्राण, सौन्दर्य उसकी [illegible]

देवता व मानवता उनकी कला का उत्कर्ष था।

उनके जीवन का, उनके सारे व्यक्तित्व का सन्देश है मेल—पूर्व व पश्चिम में मेल, प्राचीन व आधुनिक में मेल, कला व जीवन में मेल, कल्पना व कर्म में मेल, अध्यात्म व संसार में मेल।

गुरुदेव मानव में देव थे। उन्हें खोकर हमने मानवता, कला व संस्कृति के देवता को खो दिया है।

: १४ :

आत्म विसर्जन के देव

महादेव भाई जेल तो बापू के साथ गये, पर उन्हें वहीं अकेला छोड़कर चल बसे! २० मिनट में जेल के अन्दर चटपट हो गये। जमनालालजी भी इसी तरह एकाएक चल दिये थे। बापू पर प्राण देने वाले उनके दोनों दाहिने-बायें हाथ विधना ने किस निठुरता से एक क्षण में काट डाले!! इसमें जब यह स्मृति जुड़ती है कि राजाजी इस संकट में गांधीजी के साथ नहीं हैं, तो उसकी निठुरता की हद हो जाती है। ऐसी दशा में महादेव भाई के इस आकस्मिक वियोग पर गांधीजी के प्रति समवेदना हो, उनकी धर्मपत्नी व पुत्र के साथ सहानुभूति हो, या खुद अपने या भारत-माता के प्रति? महादेव भाई की मृत्यु एक पुण्यात्मा की ही नहीं महान् वीरात्मा की मृत्यु हुई। मनुष्य गांधी को छोड़ दें तो सेनापति गांधी अपने सिपाहियों की जैसी मृत्यु चाहता व देख सकता है वैसी ही यह मृत्यु है। गांधीजी के सैनिकों के लिए यह ईर्ष्या का विषय है। गांधीजी के उपवास की अफवाहें आये दिन उड़ती रहती हैं। ब्रिटिशों की शोषण-शीलता भारत को आज़ाद देखने के पहले न जाने किन-किन छोटे-बड़े भारत के सपूतों की आहुति लेना चाहती है। महादेव-भाई ने जीते-जी अखण्ड, अविरत, निरलस, निःस्वार्थ सेवा का, आत्म-समर्पण का व मरके आत्माहुति का, वीरगति का मार्ग हमें बताया है। अपने २१ वर्ष के सम्पर्क में मैंने उन्हें जैसा

सुकोमल व उच्च भावनाओं का धनी, अपने बापू का एकनिष्ठ हनूमान, चरित्र-गायक वेदव्यास पाया, वैसे ही अपनी मृत्यु में वह एक शानदार सिपाही भव्य उज्ज्वल नक्षत्र की तरह चमके। आत्माभिमान बड़ी चीज है किन्तु आत्मास्मृति उससे महान् व विरल है। आत्म विसर्जन के इस महान् देवता को आज हमारा शत-शत प्रणाम है। श्रीमती दुर्गा बहन व चि० नारायण उनके सदृश पति व पिता पाकर धन्य हुए। निश्चय ही उनके पंचभौतिक शरीर का वियोग उनके लिए एक वज्राघात है; परन्तु अपनी उच्च, निर्मल व दिव्य आत्मा का प्रेरक संदेश अपनी, चिरस्मरणीय सेवा का अमर पाठ जो वह हमें दे गये हैं, वह उनकी अमिट विरासत है। यह लाभ विरले ही भाग्य वालों को मिलता है। महादेव भाई की मृत्यु जितना शोक का विषय है, उससे कहीं अधिक ईर्ष्या व गौरव का विषय है; और सच पूछिए तो यह समय महादेव भाई के जीवन या मृत्यु पर कुछ लिखने का नहीं है, बल्कि उनकी मौत मरने का है।

सितम्बर-अक्तूबर १९४२.

लेखक की अन्य रचनाएँ

१. स्वतंत्रता की ओर
२. विश्व की विभूतियां
३. मनन
४. साधना के पथ पर
५. हिन्दी-गीता (सम-श्लोकी)
६. जीवन की कृतार्थता (छपरही है)
७. बापू के आश्रम में ,,
८. जीवन का सद्व्यय (अनुवाद)